'हिन्दी विश्व-भारती'-परिवार को एक नई भेंट

हिन्दी में अपने ढंग का पहला कलापूर्ण सचित्र प्रकाशन

भारत-निर्माता
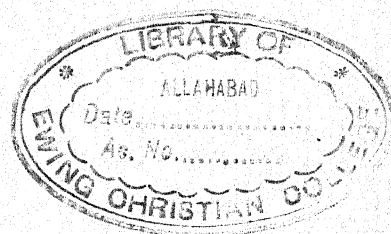
लेखक

श्री० कृष्णवल्लभ द्विवेदी

संपादक, 'हिन्दी विश्व-भारती'

[विवरण पृष्ठ उलटकर देखिए]

◇ **भा**रतीय राष्ट्र और संस्कृति का निर्माण करनेवाले महापुरुषों के एक नवीन दृष्टिकोण से लिखे गए लगभग ७५ भावपूर्ण चारु चरित्र।

◇ **सा**थ ही, उदीयमान चित्रकार **श्री पन्नालाल** द्वारा क्रेयॉन से एक नवीन शैली में बनाए गए लगभग ७५ मौलिक कलापूर्ण चित्र, जो प्रकाशन के क्षेत्र में एक बिल्कुल नई चीज़ हैं।

◇ **औ**र इन सबमें पिरोया हुआ हमारी संस्कृति के भव्य अतीत तथा आशा-भरे वर्त्तमान का वह गौरवपूर्ण सजीव इतिहास, जो इस महादेश के भावी कलेवर की रीढ़ है।

'हिन्दी विश्व-भारती' के पृष्ठ से सवाए-ड्योढ़े आकार के
'हिन्दी विश्व-भारती' के काग़ज़ से ड्योढ़ी-दूनी मोटाई के

दो रंगों में छापे गए

लगभग २०० पृष्ठों का यह कलापूर्ण ग्रंथ

इस देश के प्रमुख प्राचीन और अर्वाचीन विचारकों, समाज-निर्माताओं, कवियों, दार्शनिकों, कलाकारों, साहित्यकारों, राजनीतिज्ञों, और क्रांतदर्शी महात्माओं के जीवनचरित्र एवं देश के निर्माण में उनका कितना हाथ है, इसका जीता-जागता चित्रपट है!

[पूरी विषय-सूची इसी पृष्ठ के सामने देखिए!]

पुस्तक छप रही है — बहुत शीघ्र प्रकाशित होगी

कपड़े की मज़बूत जिल्द
सुंदर कलापूर्ण सचित्र कवर

मूल्य ४॥)

कई आर्डर आ चुके हैं और भारी लागत के कारण एक निश्चित संख्या में ही प्रतियाँ छापी जा रही हैं। आप भी अपना आर्डर शीघ्र देकर अपनी प्रति रिज़र्व करा लीजिए, वरना दूसरे संस्करण की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

एजूकेशनल पब्लिशिंग कं० लि०, चारबाग़, लखनऊ

'भारत-निर्माता' में अंकित महापुरुषों का क्रम

१. मनु
२. वैदिक ऋषि
३. वाल्मीकि
४. कृष्ण द्वैपायन व्यास
५. श्रीकृष्ण
६. याज्ञवल्क्य
७. सूत्रकार और स्मृतिकार
८. पाणिनि
९. षट्दर्शन के रचयिता
१०. महावीर
११. गौतम बुद्ध
१२. कौटिल्य
१३. अशोक
१४. प्राचीन रसायनवेत्ता और प्राणाचार्य
१५. पतंजलि
१६. नागार्जुन
१७. प्राचीन ज्योतिषी और गणितज्ञ
१८. कालिदास और प्राचीन वाङ्मय के अन्य रत्न
१९. मध्यकालीन भारतीय सम्राट्
२०. मीमांसक और बौद्ध पंडित
२१. शंकर
२२. रामानुज
२३. मध्व
२४. वल्लभ
२५. रामानंद और अन्य संत
२६. कबीर
२७. चैतन्य
२८. नानक
२९. सूरदास
३०. तुलसीदास
३१. मीरा
३२. अकबर
३३. प्रताप
३४. तानसेन और अन्य संगीतज्ञ
३५. गोविन्दसिंह
३६. शिवाजी
३७. अहल्याबाई
३८. राममोहनराय
३९. हरिश्चन्द्र और हिन्दी के अन्य प्रारंभिक निर्माता
४०. ग़ालिब और उर्दू के अन्य प्रारंभिक निर्माता
४१. दयानंद
४२. रामकृष्ण
४३. केशवचंद्र
४४. विवेकानंद
४५. रामतीर्थ
४६. दादाभाई नवरोज़ी
४७. सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी
४८. गोपालकृष्ण गोखले
४९. बाल गंगाधर तिलक
५०. मदनमोहन मालवीय
५१. मोहनदास गांधी
५२. चित्तरंजन दास
५३. लाजपतराय
५४. सरोजिनी नायडू
५५. मोतीलाल नेहरू
५६. विट्ठलभाई पटेल
५७. जवाहरलाल नेहरू
५८. राजेन्द्रप्रसाद
५९. अब्दुल गफ़्फ़ार ख़ाँ
६०. रवीन्द्रनाथ ठाकुर और बंग-साहित्य के अन्य रत्न
६१. महावीरप्रसाद द्विवेदी
६२. आधुनिक हिन्दी के अन्य रत्न
६३. प्रेमचंद
६४. इक़बाल और आधुनिक उर्दू-साहित्यिक
६५. गुजराती, महाराष्ट्रीय और दक्षिणी साहित्यकार
६६. संगीत के पुनर्जन्मदाता
६७. उदयशंकर और नृत्य के पुनरुद्धारकर्त्ता
६८. अवनीन्द्रनाथ और अन्य कलाकार
६९. अरविन्द घोष
७०. जगदीशचंद्र वसु
७१. प्रफुल्लचन्द्र राय
७२. श्रीनिवास रामानुजन
७३. चंद्रशेखर वेंकट रामन
७४. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् और अन्य विद्वान्

ग्राहकों के संशोधित नियम

१. 'हिन्दी विश्व-भारती' क्रमश: प्रकाशित होनेवाले ५० अङ्कों या भागों में समाप्त होगी।

२. 'हिन्दी विश्व-भारती' का मूल्य नीचे लिखे अनुसार है:—

(क) अजिल्द एक प्रति का मूल्य..................	१।=) रु०
(ख) ,, बारह अङ्कों का पेशगी चन्दा या मूल्य	१५) रु०
(ग) ,, ५० अङ्कों का पेशगी चन्दा या मूल्य	६०) रु०
(घ) सजिल्द ५० अङ्कों का पूरा सेट (१० जिल्दों में)	७८) रु०
(ङ) प्रति जिल्द (५ अङ्कों की).................	१०) रु०
(च) पाँच अजिल्द अङ्कों के लिए जिल्द-कवर.........	१॥) रु०
(छ) पाँच अङ्कों की जिल्द बँधाई (मय जिल्द कवर)	१॥।) रु०

उपरोक्त मूल्य १ जनवरी, १९४१, से लागू हैं। इससे पहले जो सज्जन ग्राहक बन चुके हैं, उन्हें पहले के रियायती मूल्य पर ही विश्व-भारती मिलती रहेगी, बशर्ते कि बारहवें अंक के मिलने के दो हफ़्तों के भीतर अर्थात् ३० अप्रैल, १९४१, तक वे अगले वर्ष का पूरा चंदा भेज दें। जो ऐसा नहीं करेंगे, उन पर ऊपर लिखे नए मूल्य ही लागू होंगे।

[नोट:—(क), (ख) और (ग) में डाक-ख़र्च सम्मिलित है; (घ), (ङ), (च) और (छ) का डाक-ख़र्च ग्राहक के ज़िम्मे होगा। (क), (ख) और (ग) हम पोस्टल सर्टिफ़िकेट लेकर साधारण बुकपोस्ट द्वारा ग्राहकों को भेजते हैं। यदि किसी वजह से डाकख़ाने द्वारा इनकी डिलीवरी न हुई तो हम इसके ज़िम्मेवार नहीं हैं। जो सज्जन अधिक हिफ़ाज़त के साथ अपनी प्रतियाँ मँगाना चाहें उन्हें, रजिस्ट्रेशन का ख़र्च प्राप्त होने पर, रजिस्टर्ड बुकपोस्ट द्वारा प्रतियाँ भेज दी जायँगी।]

३. ग्राहक बन जाने पर कार्यालय से हर ग्राहक को ग्राहक-नंबर दिया जायगा। ग्राहकों को पत्र-व्यवहार में अपना यह ग्राहक-नंबर अवश्य लिखना चाहिए, नहीं तो आज्ञा-पालन में देर हो सकती है।

४. एजेंटों को प्रति आर्डर ज़्यादा-से-ज़्यादा २) रु० पेशगी लेने का अधिकार है। एजंट यदि फ़ुटकर प्रति सप्लाई करें तो सप्लाई की गई प्रतियों का दाम उन्हें दिया जा सकता है।

५. चेक या पोस्टल आर्डर "एजूकेशनल पब्लिशिंग कम्पनी लिमिटेड, लखनऊ" के नाम से ही आना चाहिए न कि 'हिन्दी विश्व-भारती' के नाम से। चेक की रक़म के साथ बैंक-कमीशन के ।=) भी भेजना ज़रूरी है।

६. ग्राहकों को जानेवाले ऐसे पैकेट पर, जिसमें कई अङ्क एक साथ भेजे जाते हैं, यह लिखा रहता है कि कौन-कौन से अङ्क भेजे जा रहे हैं। जिस अङ्क का उल्लेख न हो, उसके बारे में यह समझना चाहिए कि वह स्टॉक में नहीं है और फिर से छपते ही ग्राहक महोदय को जल्दी से जल्दी भेज दिया जायगा।

ग्राहक महोदय ध्यान दें !

'हिन्दी विश्व-भारती' का १२वाँ अंक अप्रैल के दूसरे हफ़्ते में आपके पास पहुँच जायगा। उसके साथ ही जिन महाशयों का चंदा समाप्त होता हो उन्हें अगले वर्ष के बारह अंकों का पेशगी चंदा १३) रु० ३० अप्रैल तक कार्यालय में अवश्य भेज देना चाहिए, वरना बाद में उन्हें इस वर्ष के संशोधित मूल्य यानी १५) रु० वार्षिक पर ही 'हिन्दी विश्व-भारती' मिल सकेगी। यहाँ हम फिर से अपनी पिछली विज्ञप्ति के ये शब्द सूचित कर देना चाहते हैं कि १३) रु० का यह रियायती मूल्य उन्हीं ग्राहकों के लिए है जो १ जनवरी, १९४१, से पहले ग्राहक बन चुके थे। इसके बाद से ग्राहक बननेवालों पर ऊपर दिए गए संशोधित नियम ही लागू होंगे।

राजराजेश्वरप्रसाद भार्गव
व्यवस्थापक

संपादक

श्रीनारायण चतुर्वेदी — कृष्णवल्लभ द्विवेदी

सहयोगी लेखक आदि

डा० गोरखप्रसाद, डी० एस-सी० (एडिनबरा), एफ० आर० ए० एस०, रीडर, गणित, प्रयाग विश्वविद्यालय।

श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०, लेक्चरर, भौतिक विज्ञान, किशोरी रमण इंटरमीडिएट कालेज, मथुरा।

श्री० मदनगोपाल मिश्र, एम० एस-सी०, लेक्चरर, रसायन विज्ञान, कान्यकुब्ज इंटरमीडिएट कालेज, लखनऊ।

श्री० वासुदेवशरण अग्रवाल, एम०ए०,एल-एल० बी०, क्यूरेटर, प्राविंशियल म्यूज़ियम ऑफ़ आर्कियालाजी, लखनऊ।

श्री० रामनारायण कपूर, बी० एस-सी० (मेटल०), मेटलर्जिस्ट, नेशनल आयर्न एण्ड स्टील कंपनी लि०, वेलूर।

डा० शिवकण्ठ पाण्डेय, एम० एस-सी०, डी०एस-सी०, लेक्चरर, वनस्पति-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० श्रीचरण वर्मा, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०, लेक्चरर, जीव-विज्ञान, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

श्री० सुरेन्द्रदेव बालुपुरी।

श्री० सीतलाप्रसाद सक्सेना, एम० ए०, बी० काम०, लेक्चरर, अर्थशास्त्र, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, एम०ए०,डी० एस-सी०(लंदन), रीडर, इतिहास, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

डा० राधाकमल मुकर्जी, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रोफ़ेसर, समाज-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० वीरेश्वर सेन, एम०ए०, हेडमास्टर, गवर्नमेंट स्कूल ऑफ़ आर्टस् एण्ड क्राफ़्टस्, लखनऊ।

श्री० व्रजमोहन तिवारी, एम० ए०, एल० टी०, लेक्चरर, कान्यकुब्ज इंटरमीडिएट कालेज, लखनऊ।

डा० सत्यनारायण शास्त्री, पी-एच०डी०(हाइडलबर्ग)।

डा० डी० एन० मजूमदार, एम० ए०, पी-एच० डी० (कैंटब), पी० आर० एस०, एफ़० आर० ए० आई०, लेक्चरर, मानव-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० श्यामसुन्दर द्विवेदी, बी० ए०, साहित्यरत्न।

डा० विद्यासागर दुबे, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, (लंदन), डी० आई० सी०, अध्यक्ष, ग्लास-टेकनालाजी डिपार्टमेंट, काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय।

डा० इबादुर रहमान खाँ, पी-एच० डी० (लंदन), प्रिंसिपल, बेसिक ट्रेनिंग कालेज, इलाहाबाद।

श्री० कुँवर सेन, एम० ए० (कैंटब), बार-एट-लॉ; जूडीशियल मिनिस्टर, जोधपुर स्टेट।

श्री० भैरवनाथ झा, बी०एस-सी०, बी० एड० (एडिन०), इंस्पैक्टर ऑफ़ स्कूल्स, यू० पी०।

प्रकाशक

राजराजेश्वरप्रसाद भार्गव,

एजूकेशनल पब्लिशिङ्ग कंपनी लिमिटेड,

चारबाग़, लखनऊ.

इस अंक की विषय-सूची

विश्व की कहानी

पृथ्वी की कहानी

मनुष्य की कहानी

पं० भृगुराज भार्गव द्वारा अवध-प्रिंटिंग-वर्क्स, चारबाग़, लखनऊ, में मुद्रित तथा एजूकेशनल पब्लिशिङ्ग कम्पनी लिमिटेड, चारबाग़, लखनऊ, के लिए प्रकाशित

विश्व
की कहानी
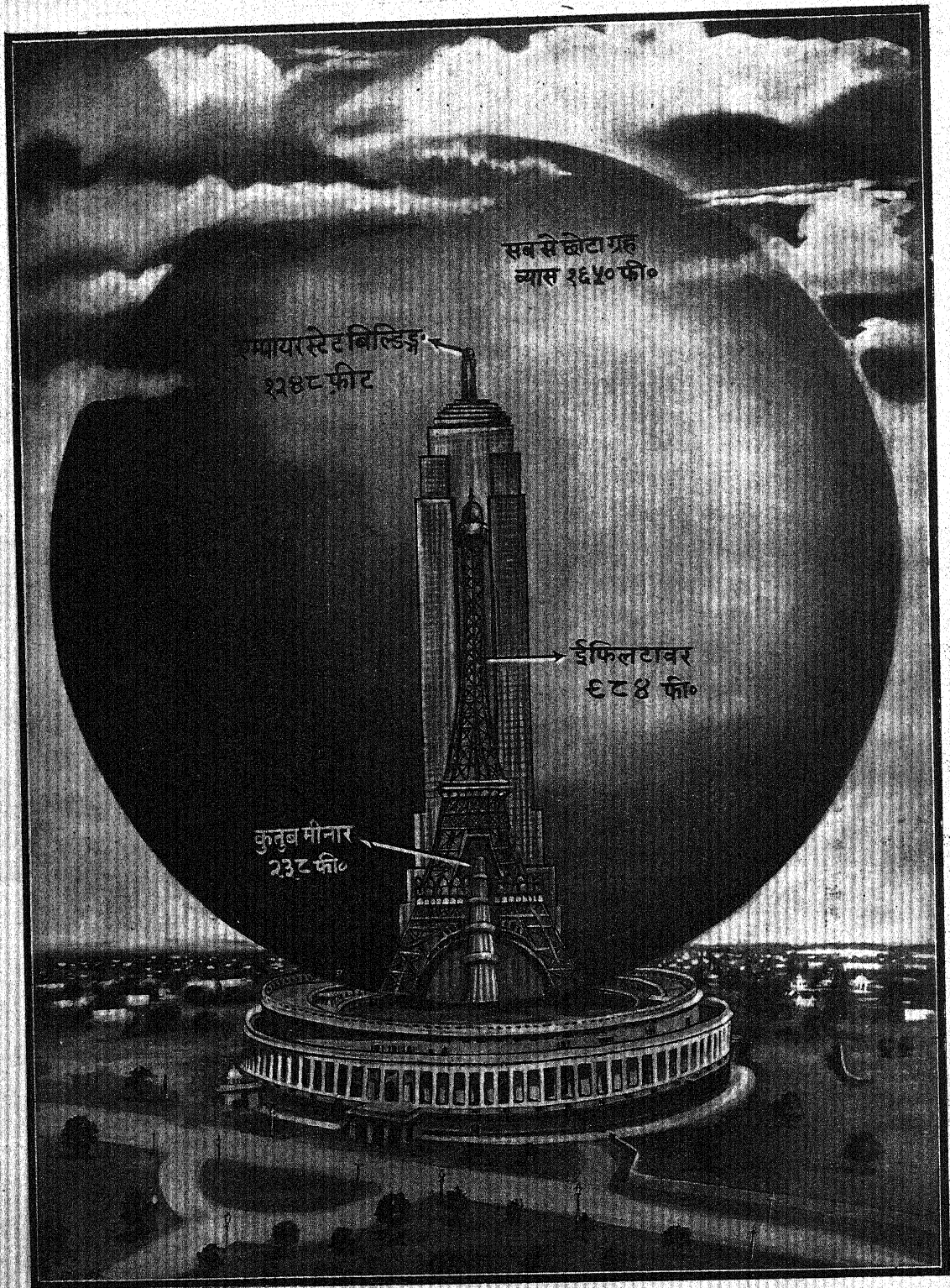
सौर परिवार का सबसे छोटा सदस्य—अब तक ज्ञात लघुतम अवांतर ग्रह

यह इतना अधिक छोटा है कि आसानी से नई दिल्ली के एसेंबली-भवन की छत पर रक्खा जा सकता है—केवल चारों ओर उसका गोलाकार भाग निकला रहेगा। दुनिया की सबसे ऊँची इमारत—न्यूयार्क की एम्पायर स्टेट बिल्डिंग—से यह थोड़ा ही अधिक ऊँचा होगा। पेरिस की ईफिल टावर और दिल्ली की कुतुब मीनार भी इसके अनुपात में दिखाई गई हैं।

अवांतर ग्रह

मंगल और बृहस्पति नामक ग्रहों के बीच सैकड़ों नन्हें-नन्हें ग्रह हैं जो या तो सौर-परिवार-उत्पत्ति के समय बँधकर एक नहीं हो पाए; या, यदि वे उस समय बँधकर एक बड़े ग्रह के रूप में थे भी, तो पीछे उसके टूट जाने पर अलग-अलग हो गए। ये 'अवांतर ग्रह' कहलाते हैं। इनमें से लगभग पौने दो हज़ार ग्रहों की कक्षाओं की गणना हो चुकी है। प्रत्येक ग्रह के लिए कोई नंबर स्थिर कर दिया गया है और नाम भी रख दिया गया है, परंतु निश्चय है कि ऐसे ग्रहों की संख्या वस्तुतः पौने दो हज़ार से कहीं अधिक होगी, क्योंकि प्रायः प्रतिवर्ष ही ऐसे दो-चार नवीन ग्रहों का पता चलता है। इनमें से सबसे बड़ा कुल ४८० मील व्यास का है। केवल तीन मील व्यास के भी ग्रह देखे गए हैं!

इनकी पहचान में अत्यंत कठिनाई होने तथा इनकी संख्या इतनी अधिक होने के कारण निश्चय ही अवांतर ग्रहों का अध्ययन कभी ही बंद हो गया होता, परंतु इनमें से एक अवांतर ग्रह, जिसका नाम एरॉस (Eros) रक्खा गया है, ज्योतिष के कुछ अन्य कामों के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुआ। इसीलिए नवीन अवांतर ग्रहों की खोज आज तक जारी है। आशा की जाती है कि एरॉस से भी उपयोगी ग्रह एक दिन हमको कदाचित् मिल जायँ। एरॉस के वेधों से सूर्य की दूरी का सूक्ष्म ज्ञान हो सकता है और हम इन्हीं वेधों से चंद्रमा का द्रव्यमान (तौल) भी अच्छी तरह जान सकते हैं।

सूर्य की दूरी

यह देखना रोचक होगा कि एरॉस के वेधों से सूर्य की दूरी कैसे जानी जा सकती है। बात यह है कि हमें सूर्य और सब ग्रहों की सापेक्षिक दूरियाँ भली भाँति ज्ञात हैं। इनमें से एक की भी असली दूरी ज्ञात हो जाय तो अन्य सब दूरियाँ ठीक-ठीक जानी जा सकती हैं। सत्रहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध ज्योतिषी केपलर ने बतलाया था कि सब ग्रह सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते हैं और उनकी दूरी और परिभ्रमण-काल में सरल संबंध है। जो ग्रह जितना ही दूर होगा वह उतने ही अधिक समय में एक चक्कर लगाएगा। वस्तुतः परिभ्रमण-कालों के वर्ग दूरियों के घनों के अनुपात में रहते हैं। हम ग्रहों के परिभ्रमण-कालों को ठीक-ठीक जानते हैं। इसलिए हम ग्रहों की दूरियों का अनुपात भी ठीक-ठीक जानते हैं। प्रत्यक्ष है कि यदि हम इनमें से किसी भी दूरी को मीलों में नाप सकें तो प्रत्येक ग्रह की दूरी मीलों में नप जायगी। परंतु पृथ्वी से सूर्य की दूरी सीधे नहीं नापी जा सकती, क्योंकि एक तो सूर्य हमसे बहुत दूर है और फिर वह इतना चमकीला है कि सब कुछ करने पर भी आकाश में उसकी स्थिति इच्छानुसार सूक्ष्मता से नहीं जानी जा सकती। इसलिए हम किसी ऐसे ग्रह की दूरी नापते हैं जो हमसे बहुत समीप हो और जो तारों से अधिक चमकीला न हो। पहले मंगल की दूरी नापी गई, क्योंकि पुराने ग्रहों में से यही हमारे सबसे निकट था, परंतु एरॉस का पता चलने के बाद देखा गया कि समय-समय पर यह मंगल से भी अधिक हमारे समीप आ जाता है। फिर, कम चमकीला होने के कारण यह दूरदर्शक में तारों के ही सदृश दिखलाई पड़ता है, जिससे इसकी स्थिति का अत्यंत सच्चा वेध किया जा सकता है। एरॉस की दूरी नापने के लिए तारों के हिसाब से इसकी दिशा का वेध दो विभिन्न और दूरस्थ वेधशालाओं से किया जाता है। इन दो जगहों से देखने पर एरॉस की दिशा में कुछ अंतर पड़ जाता है। उस अंतर को नाप लेने पर गणना करने से जान लिया जाता है कि एरॉस हमसे वेध के दिन कितनी दूरी पर था। तब केपलर के नियम के अनुसार तुरंत पता चल जाता है कि सूर्य हमसे कितनी दूरी पर है।

एरॉस की खोज के बाद १६०१ में यह अवांतर ग्रह हमारे सबसे निकट आया। उस वर्ष इसका हज़ारों बार वेध किया गया और गणना से जो दूरी सूर्य की निकली वह पहले के मानों से कहीं अधिक शुद्ध थी। तो भी ज्योतिषियों को पूरा संतोष नहीं हुआ। वे एक बार

फिर एरॉस के निकटतम दूरी पर आने की प्रतीक्षा में थे। यह अवसर जनवरी, १९३१, में प्राप्त हुआ। उस समय लाखों वेध किये गए। इसमें कई एक वेधशालाओं ने हाथ बँटाया। वेधशालाओं के कार्यों का बँटवारा 'इंटर-नेशनल ऐस्ट्रॉनॉमिकल यूनियन' (अंतर्राष्ट्रीय ज्योतिष संघ) के 'सोलर पैरालैक्स कमिशन' (सौर लंबन परिषद्) ने पहले से ही कर रक्खा था। इन वेधों के आधार पर सूर्य की दूरी की गणना आज (जनवरी १९४१) तक समाप्त नहीं हुई, यद्यपि अब दस वर्ष हो गए! गणना का काम ग्रिनिच की 'रॉयल ऑब्ज़र्वेटरी' (राज-वेधशाला) में लगातार हो रहा है। वहाँ कई एक वेतनभोगी ज्योतिषी इसी काम में, १९३१ के कुछ वर्ष पहले से ही, लगे हुए हैं। इस गणना के संबंध में नवीनतम प्रकाशन इंगलैंड के राज-ज्योतिषी स्पेंसर जोन्स का है, जिसमें उन्होंने एक शंका-समाधान किया है। इसकी आवश्यकता इसलिए पड़ी कि जर्मनी की 'बर्गेडोर्फ वेधशाला' के वेधों के आधार पर डाक्टर विक ने यह परिणाम निकाला कि एरॉस कोई एक पिंड नहीं है (नवंबर, १९३९)। कम-से-कम यह तीन ग्रहों का समूह है और इन तीनों का केंद्र वैसी सरल कक्षा में नहीं चलता, जिसमें एक पिंड होने पर एरॉस चलता। फलस्वरूप, डाक्टर विक का मत है कि एरॉस से सूर्य की दूरी की सूक्ष्म नाप जानने की आशा व्यर्थ है और गत दस वर्षों का परिश्रम सब निष्फल जायगा। इस खलबली मचा देनेवाले परिणाम की सत्यता की जाँच इंगलैंड के राज-ज्योतिषी ने अन्य वेधशालाओं के वेधों के आधार पर की है और अप्रैल, १९४०, के 'मंथली नोटिसेज़' नामक मासिक पत्रिका में यह छापा है कि डाक्टर विक की शंकाएँ निर्मूल हैं। हाँ, एरॉस की चमक घटा-बढ़ा करती है, जिसके एक चक्र का काल ५ घंटा १६ मिनट है, परंतु इससे सूर्य की दूरी की गणना में कोई त्रुटि नहीं उत्पन्न हो सकती। इसलिए अब भी आशा की जा सकती है कि जब गणना समाप्त होगी तो सूर्य की दूरी हमें सूक्ष्म रूप से ज्ञात हो सकेगी।

अवांतर ग्रहों का आविष्कार

अवांतर ग्रहों के आविष्कार की कथा बड़ी ही रोचक है। ये ग्रह ढूँढ़कर निकाले गए हैं। बात यह है कि जब ग्रहों का नक़्शा पैमाने के अनुसार खींचा जाता है तो तुरंत दिखलाई पड़ता है कि मंगल और बृहस्पति के बीच में असाधारण जगह खाली पड़ी है। तुरंत ऐसा भास होता है कि इन दोनों के बीच में एक ग्रह होना
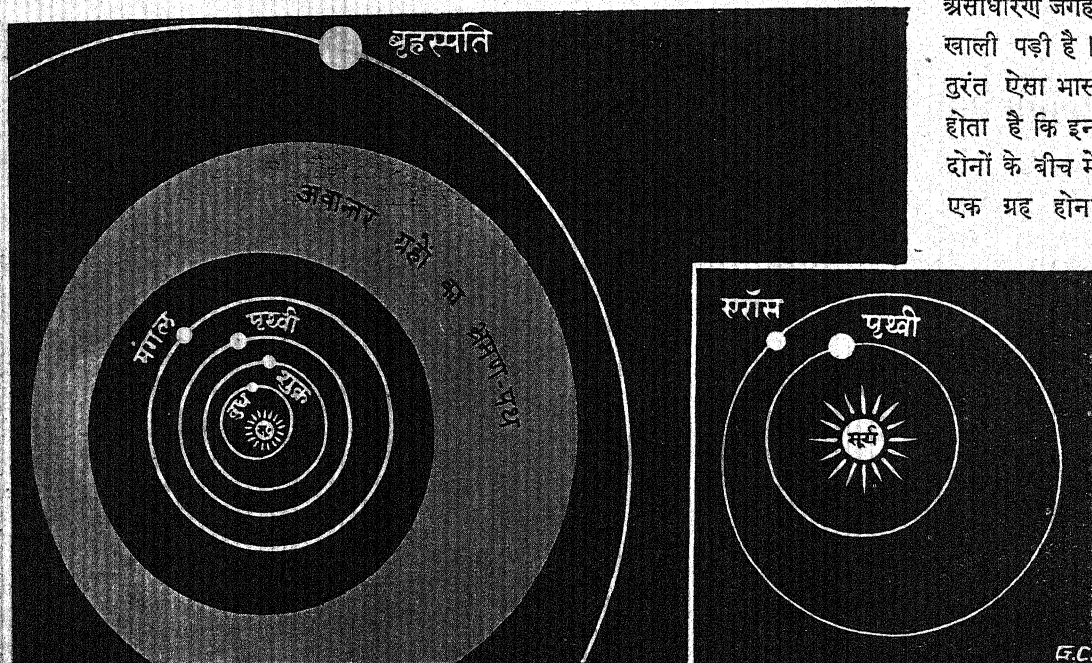
(बाईं ओर) अवांतर ग्रहों की स्थिति। (दाहिनी ओर) एरॉस की कक्षा।
अवांतर ग्रह मंगल और बृहस्पति की कक्षाओं के बीच में बिखरे हुए हैं। धारणा की जाती है कि किसी समय यहाँ एक बड़ा ग्रह रहा होगा और उसके टूटने से ही ये हज़ारों अवांतर ग्रह बन गए। इनमें ऍरास की कक्षा इस प्रकार की है कि वह कभी-कभी पृथ्वी के बहुत समीप आ जाता है। इससे सूर्य की दूरी जानने में मदद मिली है।

चाहिए। केपलर ने कहा भी था कि अवश्य इन दोनों के बीच कोई ग्रह होगा, जो छोटा होने के कारण हमको दिखलाई नहीं पड़ता। एक ज्योतिषी ने दिल्लगी की कि यहाँ ग्रह रहा अवश्य होगा, परंतु कोई दीर्घकाय पुच्छल तारा उसे अपनी पूँछ में समेट ले गया होगा! १७७२ में विटनवर्ग (जर्मनी) के टिटियस नामक प्रोफ़ेसर ने, ग्रहों की दूरियों के बारे में एक नियम का पता लगाया। उन्होंने बतलाया कि यदि हम ०, ३, ६, १२, २४ इत्यादि संख्याएँ लें और इनमें से प्रत्येक में ४ जोड़ दें तो हमें ग्रहों की सापेक्षिक दूरी प्राप्त

भारतवर्ष की लंबाई-चौड़ाई की तुलना में कुछ बड़े अवांतर ग्रहों का आकार। इनमें सीरिस सबसे बड़ा अवांतर ग्रह है।

हो जायगी। यह ध्यान देने योग्य बात है कि ०, ३, ६, इत्यादि संख्याओं में पहली संख्या शून्य है, दूसरी तीन, और अन्य संख्याएँ तीन को दुगुना करते चले जाने से प्राप्त होती हैं। टिटियस के नियम से प्राप्त दूरी वास्तविक दूरी के लगभग बराबर ही निकलती है, जैसा निम्न सारिणी से स्पष्ट है—

ग्रह का नाम	टिटियस के नियम से प्राप्त दूरी	वास्तविक दूरी
बुध	४	३·९
शुक्र	७	७·२
पृथ्वी	१०	१०·०
मंगल	१६	१५·२
अवांतर ग्रह	२८	२६·५
बृहस्पति	५२	५२·०
शनि	१००	९५·४
यूरेनस	१९६	१९१·९
नेपच्यून	३८८	३००·७

जिस समय टिटियस ने इस नियम का आविष्कार किया था उस समय न तो अवांतर ग्रहों का ही पता था और न यूरेनस और नेपच्यून का। यूरेनस और नेपच्यून तो सूची के अंत में आते हैं; इसलिए इनके कारण कोई कठिनाई नहीं पड़ी; परंतु अवांतर ग्रहों का स्थान अवश्य रिक्त रखना पड़ा। बोडे (Bode) टिटियस से अधिक प्रसिद्ध ज्योतिषी था। उसने टिटियस का नियम मान लिया और बहुत ज़ोर लगाया कि रिक्त स्थान में ग्रहों की खोज होनी चाहिए। बहुत-से ज्योतिषियों ने टिटियस के नियम का पता बोडे द्वारा पाया; इसलिए आज भी यह नियम साधारणतः 'बोडे का नियम' कहलाता है। रिक्त स्थान में ग्रहों की खोज की बात हो ही रही थी, इतने में यूरेनस का आविष्कार हुआ। जब उसकी दूरी की गणना हुई तो पता चला कि वह भी बोडे के नियम के अनुसार ही है। तब बोडे के नियम में लोगों का विश्वास इतना दृढ़ हो गया कि मंगल और बृहस्पति के बीचवाले अज्ञात ग्रह को ढूँढ निकालने के लिए जर्मन ज्योतिषियों ने मिलकर २४ सभ्यों की एक परिषद् स्थापित की। इस परिषद् का उद्देश्य यही था कि अज्ञात ग्रह को ढूँढ निकाला जाय। प्रत्येक सभ्य के ज़िम्मे राशिमंडल का चौबीसवाँ भाग कर दिया गया। लोग विनोद में इस परिषद् को 'आकाशीय पुलिस' कहा करते थे और प्रत्येक सभ्य को चाह थी कि अभियुक्त को वही गिरफ़्तार करे और संसार में यश प्राप्त करे।

इधर अज्ञात ग्रह के पता पाने की ये सब तैयारियाँ हो रही थीं, उधर सिसिली (इटली) के ज्योतिषी पियाज़ी (Piazzi) ने उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दिवस की

शाम को एक नवीन ग्रह देख ही लिया। 'आकाशीय पुलिस' में पियाज़ी के लिए भी एक स्थान रक्खा गया था, परंतु उस समय तक पियाज़ी को इसकी ख़बर न थी। वह एक नक्षत्र-सूची बनाने में लगा था और उसने ग्रह को इसलिए पहचान लिया कि इसका स्थान एक पुरानी सूची में कुछ और ही लिखा था। इसलिए या तो पुरानी सूची में अशुद्धि थी, या यह तारा नहीं बल्कि ग्रह या केतु था, क्योंकि तारों के हिसाब से केवल ग्रह या केतु चला करते हैं। दो-तीन दिन तक इसे देखने से तुरंत पता चल गया कि यह स्थिर नहीं है बल्कि चल रहा है। इससे स्पष्ट हो गया कि पुरानी सूची में भूल नहीं थी। पियाज़ी ने पहले समझा कि यह कोई केतु (पुच्छल तारा) होगा। पियाज़ी सवा महीने तक सावधानी से वेध करता रहा। फिर वह बीमार पड़ गया। परंतु उसने अपने आविष्कार की सूचना बाहर भेज दी थी। बोडे को पत्र मिलने में दो महीनें की देर हो गई, क्योंकि उन दिनों योरप में बड़ी अशान्ति फैली थी। बोडे ने पत्र पाते ही समझ लिया कि नवीन पिंड केतु नहीं, वही अज्ञात ग्रह होगा, जिसकी खोज में लोग इतने समय से पड़े थे। यह समाचार शीघ्र सब जगह फैल गया। परंतु अब यह पिंड सूर्य के बहुत निकट पहुँच गया था और दिखलाई नहीं पड़ रहा था। पियाज़ी ने जब इसे देखा था तब भी यह कोरी आँख से नहीं दिखलाई पड़ता था, केवल दूरबीन से दिखलाई पड़ता था, और सो भी मंद प्रकाशवाले तारे की तरह। इसलिए अब सबको इस बात की शंका होने लगी कि शायद यह ग्रह फिर खो जायगा; क्योंकि इस ग्रह की स्थितियों का वेध केवल सवा महीने तक किया गया था; और इतने समय में यह ग्रह इतना कम चल पाया था कि कोई भी न बतला सकता था कि भविष्य में वह किधर और किस गति से जायगा। कई एक गणितज्ञों ने चेष्टा अवश्य की कि इसके मार्ग का पता लगाएँ, परंतु उनके परिणाम इतने ऊट-पटाँग निकले कि निराशा और भी बढ़ गई। प्रसिद्ध जर्मन ज्योतिषी गाउस, जिसकी गणना अब संसार के बड़े विद्वानों की प्रथम श्रेणी में की जाती है, उस समय केवल चौबीस वर्ष का था। परंतु उस अल्प आयु में भी उसकी प्रखर बुद्धि ने वह सफलता पाई जो उस समय के अनुभवी ज्योतिषी न पा सके। गाउस ने ग्रह की कक्षा की गणना करने की एक अत्यंत सच्ची नवीन रीति निकाली और वह ठीक-ठीक बतला सका कि ग्रह किस मार्ग में चल रहा है। इन सब में कई महीने बीत गए और नवंबर का महीना आ गया। अब एक नयी विपत्ति ज्योतिषियों के सम्मुख यह उपस्थित हुई कि बादलों के कारण आकाश कभी स्वच्छ ही न होता था। अंत में, वर्ष के अंतिम दिवस की रात्रि में आकाश स्वच्छ हो गया और वह ग्रह, जिसकी खोज वर्ष के प्रथम दिवस में हुई थी, फिर उसी स्थान में दिखलाई दिया, जहाँ गाउस की गणना के अनुसार इसे होना चाहिए था! कक्षा के प्रायः गोल होने के कारण यह प्रत्यक्ष था कि यह वस्तुतः ग्रह ही है। पियाज़ी की इच्छा के अनुसार इस ग्रह का नाम सिसिली की ग्रामदेवी के नाम पर 'सीरिस' (Seres) रक्खा गया।

सबसे बड़े ग्रह सीरिस के आकार की चन्द्रमा से तुलना

सीरिस के आविष्कार के बाद तीन अन्य अवांतर ग्रहों का पता शीघ्र ही लगा। चौथे अवांतर ग्रह के आविष्कार के बाद वर्षों तक खोज होती रही, परन्तु अन्य कोई ग्रह नहीं मिला। तब लगभग ४० वर्ष बाद, एक उपपोस्टमास्टर का पंद्रह वर्ष का कठिन परिश्रम सफल हुआ और पाँचवें अवांतर ग्रह का पता चला। फिर तो नवीन अवांतर ग्रह

लगातार मिलते रहे। आज लगभग पौने दो हज़ार अवांतर ग्रहों का पता हमें है और दो-चार नवीन अवांतर ग्रह हमें प्रति वर्ष ही मिल जाते हैं। इधर अधिक ग्रहों के मिलने का एक कारण यह है कि फ़ोटोग्राफ़ी से हम सहायता ले सकते हैं। यदि कोई अवांतर ग्रह इतने मंद प्रकाश का हो कि वह हमको बड़े दूरदर्शक में भी न दिखलाई पड़े तो घंटों घूरते रहने पर भी वह हमको नहीं दिखलाई पड़ेगा, परंतु यदि हम उसी ग्रह का फ़ोटो तेज़ फ़ोटोग्राफ़िक प्लेट पर लें और दो-चार घंटे का प्रकाश-दर्शन (एक्सपोज़र) दें तो उस मंद प्रकाश के दो-चार घंटे का सम्मिलित प्रभाव अवश्य प्लेट में इतना परिवर्त्तन कर देगा कि ग्रह का चित्र खिंच जाय। जर्मन-ज्योतिषी मैक्स वोल्फ़ ने पहले-पहल इस बात से पूरा लाभ उठाया। वह पहले से अनुमान कर लेता था कि अवांतर ग्रह किधर और किस वेग से चलता होगा; और वह अपने दूरदर्शक को ठीक ऐसी गति से चलाता था कि अज्ञात ग्रह का चित्र विंदु-सरीखा उतरे। तारों के हिसाब से ग्रह चलता रहता है, इसलिए उपरोक्त रीति से दूरबीन चलाकर घंटों का प्रकाश-दर्शन देने पर तारों के चित्र तो विंदु-सरीखे न उतरते थे—वे खिंचकर कुछ लम्बे हो जाते थे—परंतु ग्रह का कुल प्रकाश घंटों तक प्लेट के केवल एक ही विंदु पर पड़ता था। इसलिए इस उपाय से मंद-से-मंद ग्रह का फ़ोटो भी खिंच आता था। इसीलिए हमें अनेक ऐसे अवांतर ग्रहों का पता है जो इतने मंद प्रकाश के हैं कि वे बड़े दूरदर्शकों में भी नहीं दिखलाई पड़ते हैं।

अवांतर ग्रह हमें तारे के समान ही दिखलाई पड़ते हैं, इसलिए उनकी पहचान केवल उनकी कक्षाओं से ही होती है। इनका नामकरण-संस्कार भी बड़ा विचित्र है। जब किसी नये ग्रह का पता चलता है और कक्षा की गणना करने पर पक्का हो जाता है कि ग्रह वस्तुतः कोई नवीन ग्रह है तब बर्लिन (जर्मनी) के रेख़ेन-इंस्टीट्यूट (Rechen-Institute) का अध्यक्ष इस ग्रह के लिए एक स्थायी नंबर डाल देता है। वहाँ से नंबर पड़ जाने के बाद आविष्कारक को इसका नाम रख देने का अवसर दिया जाता है। पहले इनके नाम देवी-देवता के नामों पर रक्खे जाते थे, परन्तु देवी-देवताओं की सूची समाप्त हो जाने के बाद शहर, मित्र, जहाज़, यहाँ तक कि पालतू कुत्ते-बिल्ली और दिलपसंद मिठाइयों के नाम तक के अनुसार अवांतर ग्रहों के नाम रक्खे गए हैं!

व्यास आदि

केवल दो-चार बड़े अवांतर ग्रहों के ही व्यास नापे जा सके हैं। अन्य अवांतर ग्रहों के व्यासों का अनुमान उनके प्रकाश की मात्रा से किया गया है। सबसे बड़ा अवांतर ग्रह सीरिस है, जिसका आविष्कार सर्वप्रथम हुआ था। इसका व्यास लगभग ४८० मील है। कुल पंद्रह-सोलह ही अवांतर ग्रह १०० मील से अधिक व्यास के होंगे। अधिकांश २० मील व्यास के

एरॉस नामक प्रसिद्ध अवान्तर ग्रह बड़ा ही विचित्र आकाशीय पिण्ड है। उसकी चमक घटती-बढ़ती रहती है। इसके कारण के संबंध में चार धारणाएँ हैं। कुछ कहते हैं, इस पर कुछ धब्बे हैं, जिससे प्रकाश बदलता रहता है। दूसरे इसे अंडाकार या अनियमित आकार का मानते हैं। अन्य की धारणा है कि ये दो पिण्ड हैं, जो कभी साथ-साथ और कभी-कभी एक-दूसरे की आड़ में आ जाते हैं, जिससे प्रकाश घट-बढ़ जाता है।
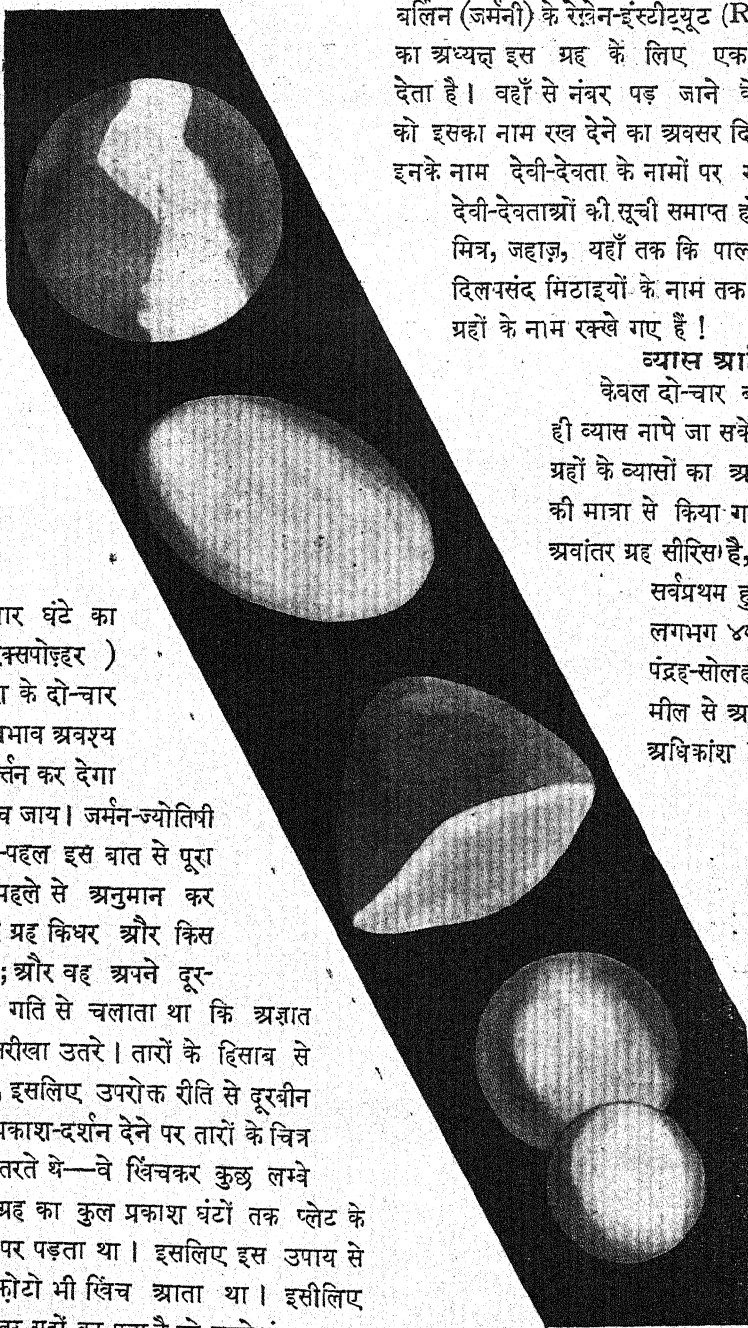
होंगे। कुछ १० मील से भी छोटे हैं। ऐलिंडा नामक अवांतर ग्रह तो कुल तीन मील का ही है!

सबसे बड़े अवांतर ग्रह पर भी आकर्षण-शक्ति इतनी कम होगी कि बंदूक़ से गोली दागने पर लौटकर फिर ग्रह पर न गिरेगी। छोटे-छोटे अवांतर ग्रहों पर से तो हाथ से ही ढेला फेंकने पर वह सदा के लिए ग्रह से चल देगा। अनुमान किया जाता है कि सब अवांतर ग्रहों की तौल कुल मिलाकर पृथ्वी की तौल के हज़ारवें भाग से अधिक न होगी। बहुत-से अवांतर ग्रहों की चमक नियमानुसार घटती-बढ़ती रहती है। इससे यह परिणाम निकाला जाता है कि ऐसे ग्रह गोल नहीं हैं। वे अनियमित आकार के हैं। जब उनका चिपटा पार्श्व हमारी ओर रहता है तब वे हमें अधिक चमकीले दिखलाई पड़ते हैं। जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, प्रसिद्ध अवांतर ग्रह एरॉस की चमक भी घटा-बढ़ा करती है। अवांतर ग्रहों की कक्षाएँ ऐसी नहीं हैं कि वे एक के बाद एक ग्रहों की दूरी के अनुसार क्रम से गिनाई जा सकें। वे एक दूसरे से ऐसी उलझी हैं कि यदि वे छड़ की बनी हुई होतीं तो एक के उठाने से सब उठ आतीं और उनके साथ मंगल और बृहस्पति की कक्षाएँ भी फँस आतीं!

अवांतर ग्रह किस प्रकार उत्पन्न हुए इस प्रश्न पर ज्योतिषीगण एकमत अभी नहीं हो सके हैं, परंतु अधिक महत्त्वपूर्ण प्रमाण इसी सिद्धान्त के लिए मिलते हैं कि मंगल और बृहस्पति के बीच कोई ग्रह था और वह किसी कारण फटकर टुकड़े-टुकड़े हो गया। कक्षाओं की विलक्षणता से ऐसा अनुमान किया जाता है कि पहले पाँच टुकड़े हुए और फिर ये टूट-टूटकर कई छोटे टुकड़ों में विभाजित हो गए। ये ही टुकड़े वर्त्तमान अवांतर ग्रह हैं।
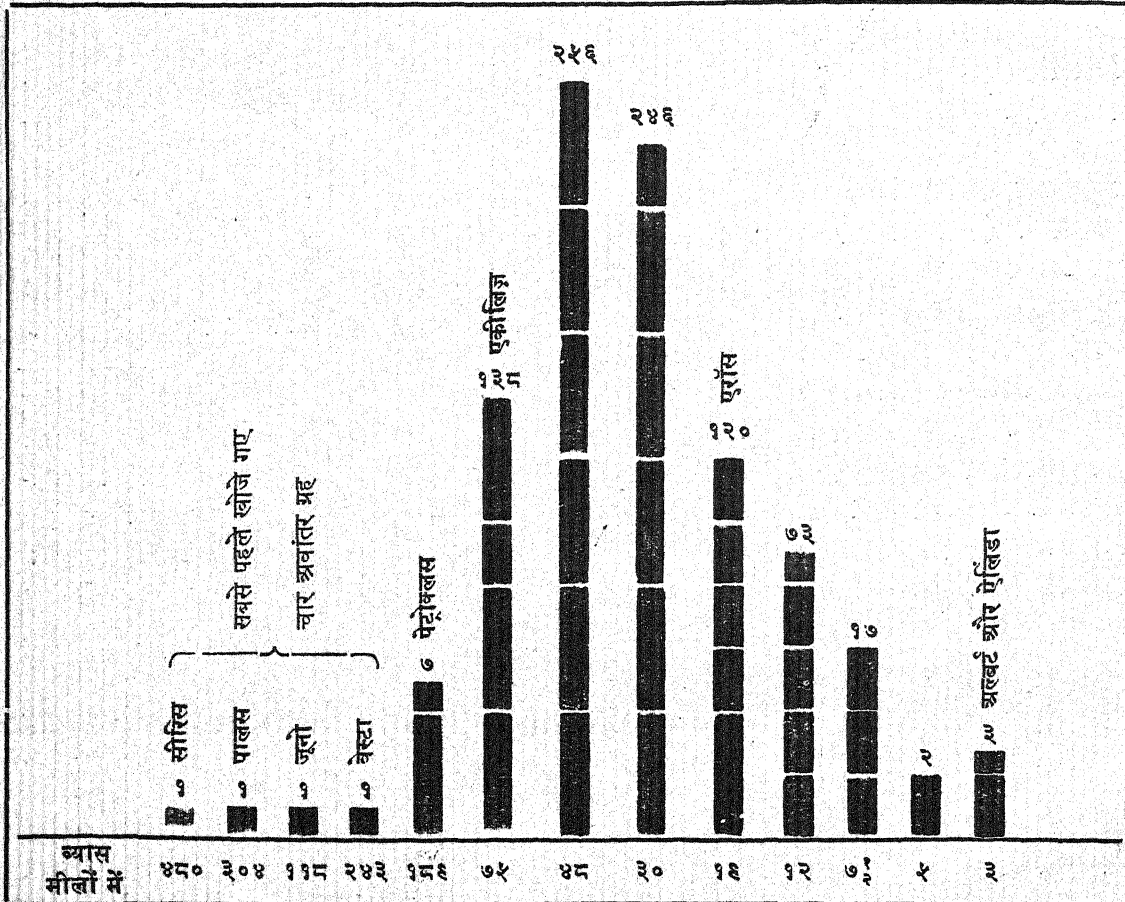
भिन्न-भिन्न व्यासों के कुछ अवांतर ग्रहों की संख्या की तालिका

अवांतर ग्रह एक ही व्यास के कई हैं, जैसे कि ऊपर दिखाए गए हैं, यथा १८६ मील व्यास के ७; ७५ मील के १२८ आदि। जिस समुदाय में जो सबसे अधिक नामांकित है उसका नाम भी दे दिया गया है।

ताप का परिचालन

यदि लोहे के चिमटे के एक सिरे को हम आग में डाल दें तो वह सिरा थोड़ी देर में ही गर्म होकर तप्त हो जाता है। इसमें आश्चर्य की भी कोई बात नहीं; क्योंकि आग में जो चीज़ डाली जायगी, उसमें आग की गर्मी प्रवेश करेगी ही। किन्तु हम देखते हैं कि चिमटे का दूसरा सिरा भी थोड़ी देर में काफ़ी गर्म हो जाता है, यद्यपि यह सिरा आग से बाहर और दूर है (दे० बग़ल के चित्र में १)!

फिर देगची में पानी रखकर जब हम उसे आँच पर चढ़ाते हैं तो देगची का पेंदा तप्त हो उठता है। इस तप्त पेंदे के स्पर्श से नीचे का पानी गर्म हो जाता है। किन्तु थोड़ी देर पश्चात् देगची के पेंदे से दूर ऊपर का पानी भी गर्म होकर खौलने लगता है! तो यहाँ पर नीचे से ऊपर गर्मी कैसे आ पहुँची? (दे० चि० में नं० २) और अँगीठी के पास जब हम जाड़े में बैठते हैं तो हमें अँगीठी से काफ़ी गर्मी प्राप्त होती है। यहाँ तक कि कुछ देर बाद तो तेज़ आँच के कारण अँगीठी के पास बैठना भी मुश्किल हो जाता है। फिर भी अँगीठी और हमारे बीच की हवा कुछ अधिक गर्म नहीं हो पाती (दे० चित्र में नं० ३)।

उपरोक्त उदाहरणों में हमने देखा है कि ताप एक स्थान से दूसरे स्थान तक विभिन्न रीतियों द्वारा पहुँच सकता है। ठोस वस्तुओं में एक सिरे के कण पहले गर्म हो उठते हैं, फिर वे अपनी गर्मी अपने बग़लवाले कणों को दे देते हैं, और ये कण स्वयं अपना ताप आगेवाले कणों को दे देते हैं। इस प्रकार पूरे ठोस में ताप का संचार हो जाता है। ताप के संचार की इस विधि को 'संचालन' कहते हैं। ऊपर के उदाहरण में चिमटे के एक सिरे से दूसरे सिरे तक ताप का संचार इसी विधि से हुआ था।

ताप के परिचालन की तीन विधियों के उदाहरण

१. 'संचालन' विधि; २. 'संवाहन' विधि (इसमें देगची आग से संचालन विधि द्वारा गर्म हुई है और इसमें का पानी संवाहन द्वारा); ३. 'विकिरण' विधि।

द्रव वस्तुओं में ताप के संचार की विधि भिन्न होती है। देगची के पेंदे के स्पर्श में आने पर नीचे का द्रव पहले गर्म होता है। तापक्रम बढ़ने के कारण इसमें प्रसार होता है, अतः इसका घनत्व भी कम हो जाता है। फलस्वरूप हलका हो जाने के कारण यह ऊपर उठ जाता है और ऊपर का ठण्डा द्रव जो अपेक्षाकृत भारी है, उसका स्थान लेने के लिए नीचे चला आता है। इस प्रकार द्रव के अन्दर ही एक धारा-सी बन जाती है, और कुछ ही देर में समूचा द्रव तप्त होकर खौलने लगता है। ताप के संचारकी इस विधि को 'संवाहन' कहते हैं, क्योंकि यहाँ पर द्रव-कणों के बहने के साथ-साथ ताप भी एक स्थान से चलकर दूसरे स्थान को पहुँच जाता है। ताप के संचार की यह विधि केवल द्रवों और गैसों में ही पाई जाती है, क्योंकि द्रव और गैस के ही कण स्वच्छन्दता-पूर्वक इधर-से-उधर को आ-जा सकते हैं। ठोस के कण अपना स्थान छोड़ नहीं सकते। इसी कारण ठोस के अन्दर ताप का संचार केवल संचालन द्वारा होता है।
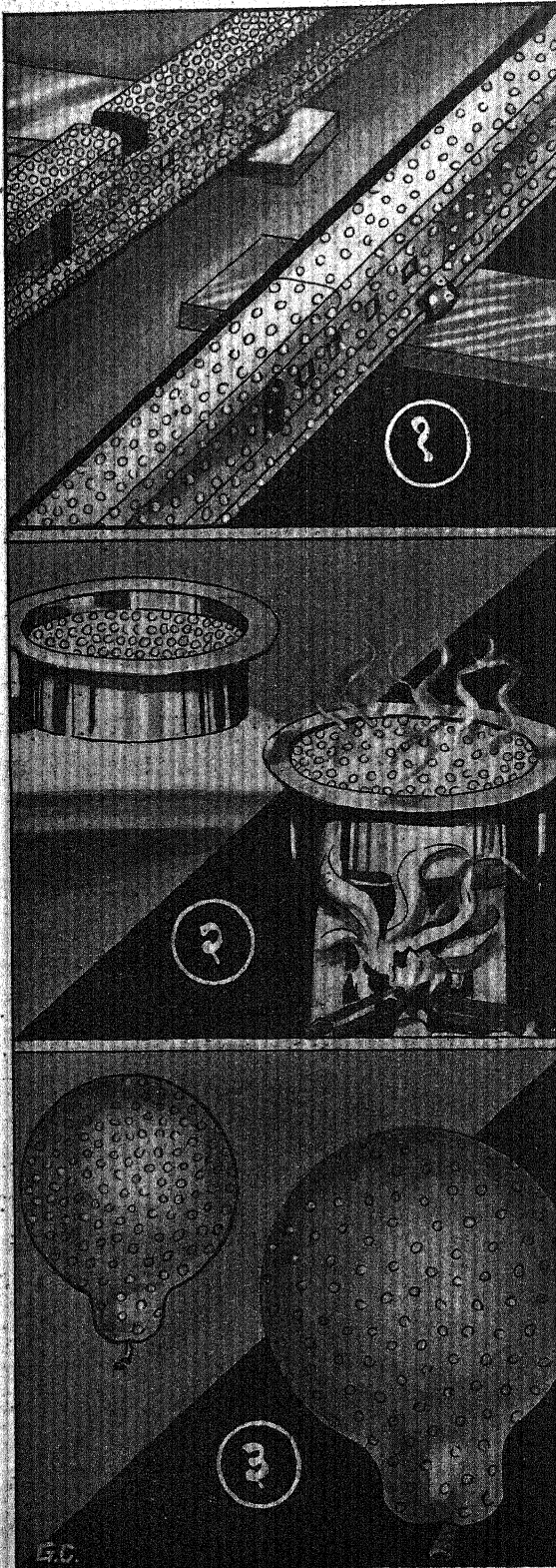
इन दोनों ही विधियों में ताप का संचार भौतिक पदार्थ के कणों की मदद से होता है। किन्तु ताप के संचार की एक तीसरी विधि भी है। इस विधि में ताप बिना किसी पदार्थ की सहायता के ही एक स्थान से दूसरे स्थान को चला जाता है। अँगीठी का ताप हमारे शरीर तक जब पहुँचता है तो वह मध्यवर्त्ती हवा को गर्म नहीं करता। सूर्य और हमारी पृथ्वी के बीच करोड़ों मील तक एकदम शून्य है—पूर्ण वैकुअम। फिर भी सूर्य से हमें अपरिमित मात्रा में ताप प्राप्त होता है। ताप के संचार की इस विधि को 'विकिरण' कहते हैं। विकिरण में भौतिक पदार्थ के कण सहायता पहुँचाने के बदले उलटे बाधा पहुँचाते हैं। अँगीठी के सामने दफ़्ती का टुकड़ा रख लीजिए तो सारा ताप रुक जायगा। दोपहर को आसमान में बादल आड़ में आते ही सूर्य का ताप फ़ौरन रुक जाता है, और हम तत्काल ही शीत का अनुभव करते हैं।

अब हम ताप के परिचालन की इन तीनों विधियों पर विस्तृत रूप से विचार करेंगे। संचालन में ठोस के कण अपने पासवाले कणों को ताप कैसे दे पाते हैं?

ताप पदार्थों के अणुओं की गति या कंपन का सूचक है। गरम होने की दशा में ठोस, द्रव, गैस सभी पदार्थों में प्रसार होता है। द्रव और गैस के अणु ढीले रहते हैं इसलिए वे ऊपर-नीचे, जहाँ जगह मिली, पसरने और दौड़ने लगते हैं। इसीलिए पतीली का पानी गर्म होने की दशा में उफ़न कर बर्तन के ऊपर तक आ जाता है (दे० चित्र में नं० २) और हवा से भरा गुब्बारा धूप में रखने पर फूलकर बढ़ जाता है (दे० नं० ३)। कभी-कभी हवा के कणों के पसार के लिए काफ़ी जगह भीतर न रहने पर वे गुब्बारे को फोड़कर बाहर भी निकल भागते हैं! ठोस में कणों के छूटकर निकल भागने की तो गुंजाइश नहीं होती, परंतु गर्मी की दशा में वे एक दूसरे से सटे हुए रहकर ही काँपने और पसरने लगते हैं, जिससे उस पदार्थ का समूचा आकार बढ़ जाता है। रेल की पटरी के सूर्य की गर्मी से तपने पर हमें यह पसार स्पष्ट दिखाई देने लगता है—दो पटरियों के बीच का जोड़ कभी-कभी फैलकर मिल जाता है (दे० नं० १)। बगल के चित्र में ठोस, द्रव और गैस तीनों के ठंडे और गर्म होने की दशा का भेद दिखाया गया है।
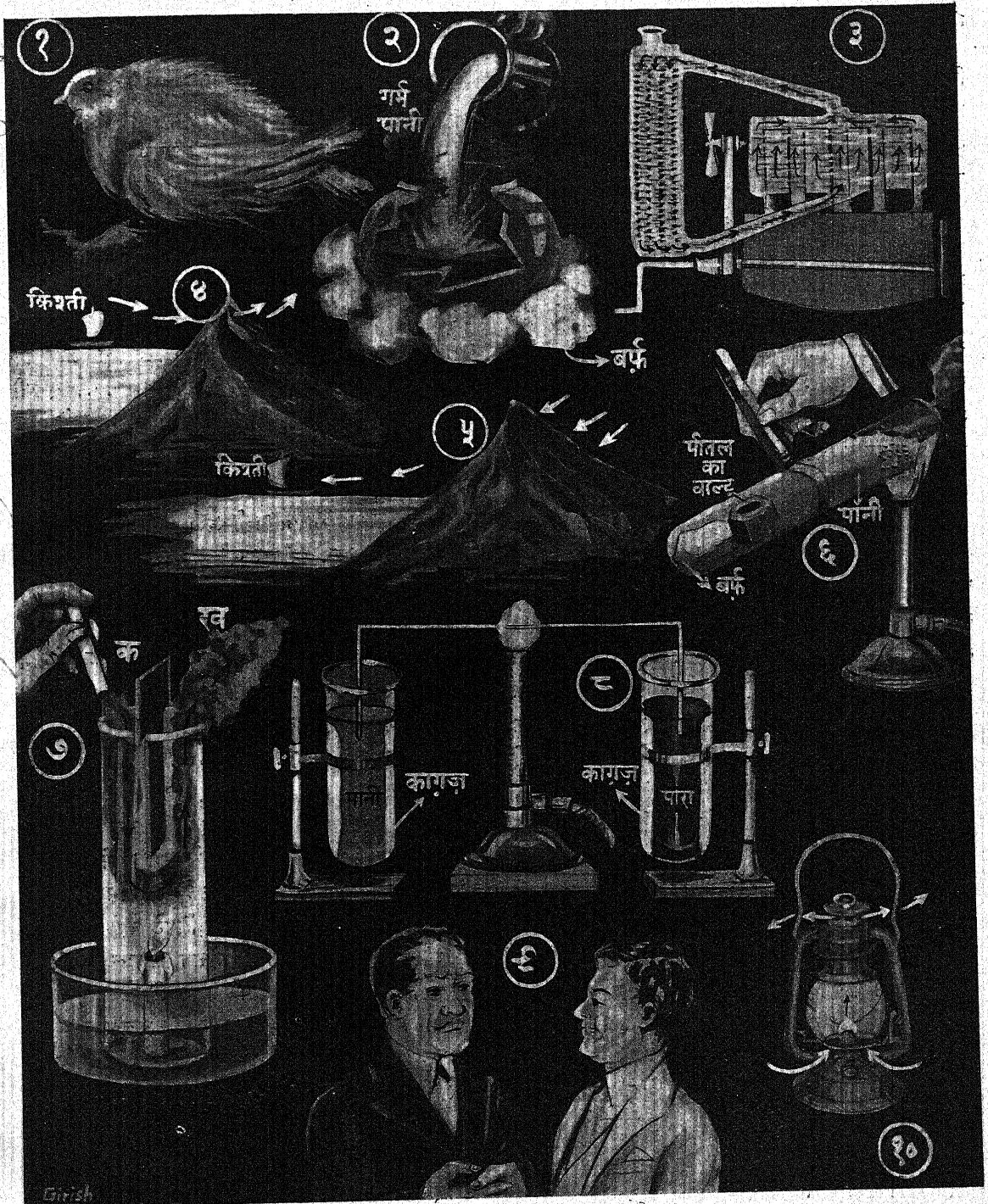
१. जाड़े में चिड़ियाँ पर फुला लेती हैं ताकि गर्मी बाहर न निकल जाय; २. शीशे के मर्तबान के चारों ओर बर्फ़ के टुकड़े रखकर उस पर गर्म पानी उँडेलिए; वह फ़ौरन टूट जायगा; ३. मोटरकार के इंजिन को पानी के संवाहन की सहायता से ठंडा करने का प्रबंध; ४. दिन को समुद्र किनारे जल-समीर चलती है; ५. शाम को वहीं स्थल-हवाएँ चलने लगती हैं; ६. पानी अधम संचालक है; ऊपर सिरे पर पानी उबल रहा है, नीचे बर्फ़ तक न पिघली; ७. सिगरेट का धुँआ क पर नीचे जाता है, ख पर ऊपर की ओर; ८. पारे के चारों ओर लिपटा हुआ काग़ज़ दूर तक झुलस जाता है जबकि पानीवाली नली का काग़ज़ सिरे पर ही झुलस पाया है; ९. धूप में काले वस्त्र पहननेवाला परेशान है, श्वेत वस्त्रवाला प्रसन्न; १०. लालटेन में नीचे से हवा घुसती और ऊपर के छेदों से बाहर निकलती है। (विशेष लेख में देखिए)

चिमटे का जो सिरा आग में है, उसके कणों में ताप आ जाने के कारण कम्पन होने लगता है। इस कम्पन का आघात जब पासवाले कणों पर पड़ता है तो ये कण भी आन्दोलित होकर कम्पन करने लगते हैं, और इस कम्पन की शक्ति के कारण इनका तापक्रम भी बढ़ जाता है। इस ढंग से एक कण से दूसरे कण में होता हुआ ताप ठोस के दूसरे छोर तक पहुँच जाता है। अवश्य ज्यों-ज्यों तप्त सिरे से हम आगे को बढ़ते हैं, उस ठोस के कणों की कम्पन-गति धीमी पड़ती जाती है, अतः तापक्रम भी कम होता जाता है। मान लीजिए, समुद्र-तट पर कई क़तार में किश्तियाँ खड़ी हैं। समुद्र की ओर से एक ऊँची लहर किनारे को आती है। यह लहर सामनेवाली क़तार की किश्तियों से टकराती है और इस लहर का समूचा ज़ोर यहीं ख़त्म भी हो जाता है। किन्तु इस लहर के आघात के कारण पहली क़तार की किश्तियाँ ऊपर-नीचे ज़ोरों के साथ हिलने लगती हैं। इनके हिलने से दूसरी क़तार की किश्तियाँ भी नीचे-ऊपर हिलने लगती हैं, यद्यपि ये इतनी ऊँचाई तक नहीं जा पातीं, जितनी पहली क़तार की किश्तियाँ। इसी प्रकार एक क़तार के बाद दूसरी क़तार करके एकदम किनारे पर खड़ी हुई किश्तियों तक यह ऊपर-नीचे का कम्पन पहुँच जाता है, और प्रत्येक क़तार की किश्तियाँ ऊपर-नीचे कम्पन करने लगती हैं। एकदम सामनेवाली क़तार की किश्तियाँ सबसे ज़्यादा हिलती हैं और पीछेवाली सबसे कम। ठीक यही क्रिया गर्म करते समय ठोस के कणों में भी होती है। जो कण अग्नि के स्पर्श में आते हैं, पहले उनमें कम्पन होता है—फिर इस कम्पन के आघात से पासवाले कणों में भी एक-एक करके कम्पन का संचार हो आता है। अतः ठोस के एक सिरे से दूसरे सिरे तक ताप पहुँच जाता है। 'संचालन' में ठीक किश्तियों की भाँति ठोस के कण भी अपनी जगह छोड़कर आगे नहीं बढ़ते। वे केवल अपने नियत स्थान पर ही बाँस की खपची की भाँति तीव्र वेग के साथ कम्पन करते रहते हैं।

सभी ठोस पदार्थों में ताप का संचालन एक-सी गति से नहीं होता। धातुओं में ताप का संचालन अच्छा होता है। इसी कारण भोजन बनाने के लिए बर्तन पीतल, काँसे या लोहे के बनते हैं, ताकि चूल्हे की आँच की गर्मी उनके अन्दर आसानी से प्रवेश कर जाय। कुछ धातुएँ ताप की उत्तम संचालक होती हैं, कुछ घटिया। गर्म चाय के प्याले में एक पीतल का चम्मच डाल दीजिए और दूसरा चाँदी का। आप देखेंगे कि पीतल का चम्मच कुछ अधिक गर्म नहीं होता, किन्तु चाँदी का चम्मच समूचा ही इतना गर्म हो जाता है कि उसे आप छू भी नहीं सकते। कारण यह है कि चाँदी की संचालक शक्ति पीतल की संचालक शक्ति से कई गुनी अधिक है। लकड़ी, नमदा, रुई, ऊन आदि पदार्थ, जो धातुओं की श्रेणी में नहीं आते, ताप के अधम संचालक हैं। इसी कारण भड़भूजे के कलछुले का दस्ता लकड़ी का बना होता है, यद्यपि स्वयं कलछुला लोहे का बना होता है। चाय के लिए पानी उबालने की देगची अल्यूमीनियम या पीतल की बनती है, किन्तु उसको हम कपड़े से पकड़कर उठाते हैं ताकि उतारने में हमारे हाथ न जल जायँ। लोहे की अँगीठी में भी दोनों ओर के कड़े में लकड़ी की गिर्रियाँ लगी रहती हैं ताकि गर्म अँगीठी को आसानी के साथ उठाकर एक जगह से दूसरी जगह को ले जा सकें।

लकड़ी और पीतल की संचालन-शक्ति की तुलना करने के लिए डेढ़ फ़ुट का एक गोल डण्डा लीजिए, जिसमें एक ओर आधी दूर पीतल हो और दूसरी ओर लकड़ी। पतले काग़ज़ की एक तह समूचे डण्डे पर लपेट दीजिए, और स्पिरिट लैम्प की लौ पर डण्डे को एक सिरे से दूसरे सिरे तक समान रूप से गर्म कीजिए। गर्म करते समय लौ पर तेज़ी के साथ डण्डे को फिराइए ताकि डण्डे के प्रत्येक भाग पर लौ की आँच समान रूप से लगे। थोड़ी देर में आप देखेंगे कि लकड़ी पर लिपटा हुआ काग़ज़ एकदम झुलस गया है, जबकि पीतल पर लिपटे हुए काग़ज़ का रंग भी नहीं बदला। चूँकि उत्तम संचालक होने के कारण पीतल ने फ़ौरन् ही अपने ऊपर लिपटे हुए काग़ज़ का ताप ग्रहण कर लिया, अतः काग़ज़ झुलस न सका। किन्तु अधम संचालक होने के कारण लकड़ी ने अपने ऊपर लिपटे हुए काग़ज़ की गर्मी ग्रहण नहीं की, फलस्वरूप लकड़ी पर लिपटा हुआ काग़ज़ जल गया। काग़ज़ हटाकर इस डण्डे को अब आप हाथ से स्पर्श कीजिए तो पीतल लकड़ी की अपेक्षा काफ़ी गर्म मालूम पड़ेगा।

जाड़े के दिनों में कमरे के अन्दर लोहे की कुर्सी काठ की कुर्सी की अपेक्षा छूने पर ज़्यादा ठण्डी मालूम पड़ती है यद्यपि दोनों का तापक्रम बिल्कुल एक है। चूँकि लोहा उत्तम संचालक है और लकड़ी अधम, इसलिए लोहे की कुर्सी हमारे शरीर का ताप तेज़ी के साथ खींच लेती है

जबकि लकड़ी उतनी तेज़ी के साथ हमारे शरीर का ताप नहीं खींच पाती।

पत्थर की अपेक्षा ईंट और कच्ची मिट्टी में ताप का संचालन कम मात्रा में होता है। इसी कारण गर्मी के दिनों में पत्थर के मकान तप जाते हैं, किन्तु ईंट या मिट्टी के बने मकानों के अन्दर उतनी गर्मी महसूस नहीं होती। फूस मिट्टी से भी ज़्यादा अधम संचालक है, अतएव फूस की झोंपड़ी गर्मी में अपेक्षाकृत ठण्डी रहती है। जेठ की लू की गर्मी झोपड़ी के अन्दर जल्दी प्रवेश नहीं कर पाती। माघ-पूस की रात में भी बाहर की ठण्ड का अधिक असर झोपड़ी के अन्दर नहीं हो पाता। प्रयाग के माघ-मेले में रात को टिन से बनी दूकानों के अन्दर लोग सर्दी के कारण ठिठुर जाते हैं, जबकि फूस की झोपड़ियों के अन्दर इतनी अधिक ठण्ड नहीं मालूम पड़ती।
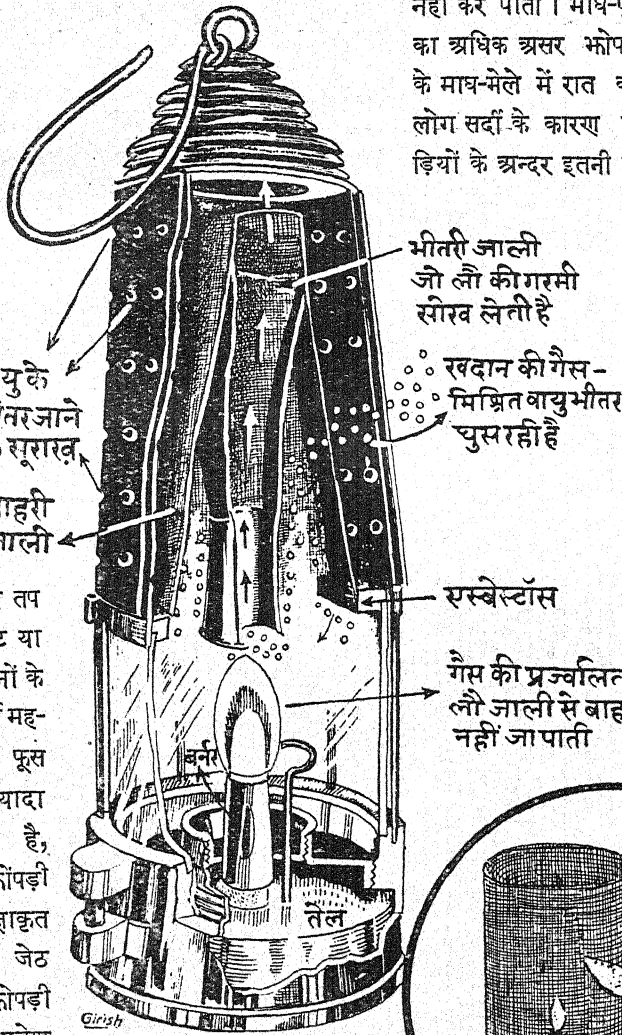
चाय के प्याले चीनी मिट्टी के बनते हैं ताकि चाय शीघ्र ठण्डी न हो जाय। चायदानी को भी गर्म रखने के लिए उसे रुईदार कपड़े की खोल से ढक देते हैं। सड़क पर मलाई की बर्फ़ बेचनेवाला भी अपने बर्त्तन को फेल्ट और नमदे की पट्टी में लपेट कर रखता है ताकि उसके अन्दर बाहर की गर्मी प्रवेश न कर जाय अन्यथा उसकी सारी बर्फ़ गल जायगी।

आपने काँच की ठण्डी गिलास में गर्म चाय उँडेलकर कभी एकाध गिलास अवश्य तोड़ी होगी। किन्तु पीतल या काँसे की गिलास में गर्म-से-गर्म चीज़ डाल दीजिए, वह कभी नहीं चटखेगी। जलती हुई
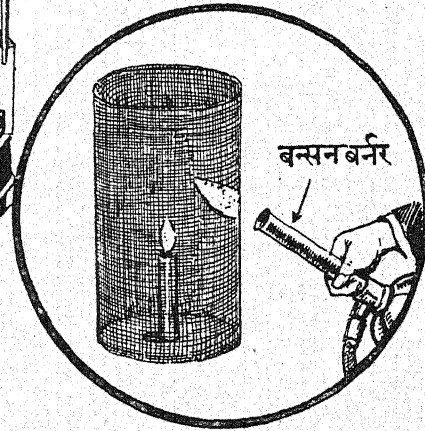
ताँबे की उत्तम संचालन-शक्ति के आधार पर ही सर हैम्फ्री डेवी ने खदानों के लिए ख़ास तौर के एक 'सैफ्टी लैम्प' का आविष्कार किया, जिससे ख़दानों में आग लगने का भय नहीं रहा। इसका सिद्धान्त ऊपर चित्र में समझाया गया है। इस लैंप में काँच की चिमनी के बजाय ताँबे के तार की बनी हुई बेलनाकार जाली लगी रहती है। यदि कोई जलनशील गैस खान के अंदर हुई तो जाली के अंदर पहुँचते ही यह लैम्प की लौ को छूकर जलने लगेगी। किंतु भीतर की गर्मी समूची जाली में फैलकर इधर-उधर की हवा में विलीन हो जाती है, अतः जाली का तापक्रम इतना नहीं चढ़ पाता कि उसके स्पर्श से बाहरवाली गैस भी प्रज्वलित हो सके। जाली के अंदर गैस का जलना देखकर मज़दूर सतर्क हो जाते हैं और लैम्प फ़ौरन बुझा दिया जाता है। इस आविष्कार ने सैकड़ों की जानें बचाई हैं। इसका सिद्धान्त बगल के गोलाकार चित्र में दिखाए गए प्रयोग में दिखाया गया है। ताँबे की एक गोलाकार जाली में मोमबत्ती जलाकर रख दी गई है। फिर बाहर से एक बन्सन बर्नर नज़दीक लाया गया है। इस बर्नर की गैस खोलते ही उसकी लौ जाली के अंदर तो जलती है पर बाहर नहीं सुलगती, यद्यपि बाहर भी वह मौजूद है। यही 'सैफ्टी लैम्प" का सिद्धान्त है।

लालटेन की चिमनी पर एकाध बूँद ठण्डे पानी की डाल दीजिए, चिमनी चटाख़ टूट जाती है। ऐसा इसलिए होता है कि काँच ताप का अधम संचालक है। काँच की ठण्डी गिलास के अन्दर गर्म चाय हम जब उँडेलते हैं तो गिलास की भीतरी दीवाल गर्म हो जाती है—फलस्वरूप इसमें प्रसार होता है। चूँकि काँच अधम संचालक है, इसलिए गिलास की बाहरी दीवाल तक गर्मी जल्दी पहुँच नहीं पाती, और न इसमें किसी तरह का प्रसार ही होता है। नतीजा यह होता है कि भीतर के प्रसार के ज़ोर का सँभाल न सकने के कारण गिलास फ़ौरन् चटख़ जाती है। पीतल ताप का उत्तम संचालक है, अतः चाय उँडलते ही समूची गिलास में क्षण भर के अन्दर ताप फैल जाता है, और भीतर-बाहर सब ठौर एक-सा ही प्रसार होता है। अतः गिलास चटखने या टूटने की नौबत ही नहीं आती। अब काँच की गिलासें पतली दीवालों की भी बनने लगी हैं। एकाएक गर्म चाय यदि इन गिलासों में उँडेली जाय तो ये टूटतीं नहीं, क्योंकि ऐसी गिलास के भीतर और बाहर के तापक्रम में अधिक अन्तर नहीं होने पाता, अतः उनके प्रसार में भी कुछ अधिक फ़र्क़ नहीं पड़ता।

प्रयोगशाला में विभिन्न पदार्थों की ताप-संचालन शक्ति की परीक्षा की गई है। यदि पानी की संचालन-शक्ति को १ मानें तो हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं:—

ताँबा	७४३	पारा	१०·७
लोहा	१४३	शीशा	१·२
सीसा	५७	फलालैन	·०२१

ताँबे की उत्तम संचालन-शक्ति के आधार पर सर हैम्फ्री डेवी ने एक 'सेफ़्टी लैम्प' का निर्माण किया था।

संचालन, संवाहन और विकिरण तीनों के अध्ययन के बाद बनाई गई 'थर्मस बोतल' जो आज दिन घर-घर में प्रचलित हो गई है।

इस ढंग के लैम्प द्वारा खान की विस्फोटक गैसों में आग लगने का भय क़तई नहीं रहता। इस लैम्प में काँच की चिमनी के स्थान पर ताँबे के तार की बनी हुई बेलनाकार जाली लगी रहती है। यदि कोई जलनशील गैस खान के अन्दर हुई तो जाली के अन्दर प्रवेश करते ही लैम्प की लौ को छूकर यह जलने लगेगी। किन्तु भीतर की गर्मी समूची जाली में फैल-कर इधर-उधर की हवा में विलीन हो जाती है, अतः जाली का तापक्रम इतना ऊँचा नहीं चढ़ पाता कि उसके स्पर्श से बाहर-वाली गैस भी प्रज्वलित हो सके। जाली के अन्दर गैस का जलना देखकर खान के मज़दूर सचेत हो जाते हैं और लैम्प भी फ़ौरन ही बुझा दिया जाता है। अन्यथा थोड़ी देर में जाली इतनी गर्म हो सकती है कि उसके स्पर्श से बाहर की गैस जल उठे और समूची खान में आग लग जाय। ठण्डे मुल्कों में मोटरघर में रक्खी हुई मोटरकार के रेडिएटर के अन्दर भी अक्सर सेफ़्टी लैम्प रख देते हैं ताकि बाहर की ठण्डक के कारण रेडिएटर का पानी जमकर बर्फ़ न बन जाय। पेट्रोल की भाप जलनशील होती है, इसलिए विस्फोट के ख़तरे से बचने के लिए यहाँ पर सेफ़्टी लैम्प ही इस्तेमाल किया जा सकता है। (दे० १३०१ पृष्ठ का चित्र)।
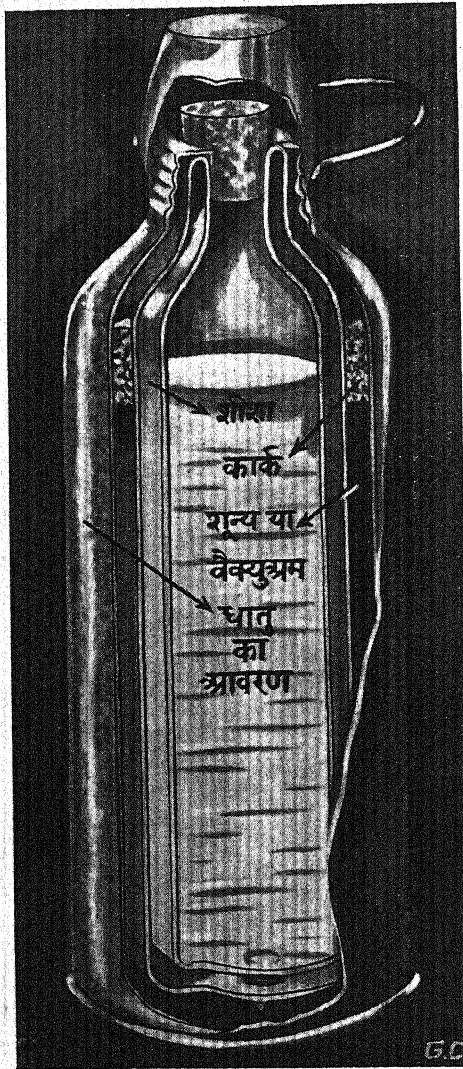
सेफ़्टी लैम्प का सिद्धान्त समझने के लिए हम एक दिलचस्प प्रयोग कर सकते हैं। एक साधारण मोमबत्ती लीजिए, और उसे ताँबे की जाली की बनी हुई बेलनाकार चिमनी के बीच में रख दीजिए। अब एक बन्सन गैस बर्नर नज़दीक ले आइए और बर्नर की गैस खोल दीजिए, ताकि जाली के भीतर जाकर वह मोमबत्ती की लौ को स्पर्श कर

सके। आप देखेंगे कि गैस जाली के अन्दर तो जलती है, किन्तु बाहर नहीं जलती, यद्यपि गैस बाहर भी पर्य्याप्त मात्रा में मौजूद है! भीतर जलती हुई गैस का ताप शीघ्रता से जाली में से होकर आसपास की हवा में विलीन हो जाता है, अतः जाली इतनी तप्त नहीं हो पाती कि उसके स्पर्श से बाहर की गैस भी प्रज्वलित हो सके (दे० १३०१ पृष्ठ का चित्र।)

अनेक पदार्थ ऐसे हैं जो ताप के नितान्त अधम संचालक हैं—ऊन, शीशा, फ़ेल्ट आदि इसी श्रेणी में आते हैं। किन्तु अधम-से-अधम संचालक के अन्दर भी कुछ-न-कुछ मात्रा में ताप-संचार अवश्य होता है। पारे के अतिरिक्त अन्य सभी द्रव और गैसें नितान्त अधम संचालक हैं। किन्तु इस स्थान पर हमें यह न भूलना चाहिए कि पारा भी एक धातु है और सभी धातुएँ अनिवार्य रूप से ताप और विद्युत्धारा की उत्तम संचालक हुआ करती हैं।

काँच की एक परखनली में पानी ले लीजिए और पेंदे में बर्फ़ का एक टुकड़ा डाल दीजिए—पीतल के वाल्ट्र के भार से बर्फ़ को पेंदे के पास दबा रहने दीजिए। स्पिरिट लैम्प की लौ से पानी को एकदम सिरे पर गर्म कीजिए। थोड़ी देर में ऊपर का पानी खौलने लगेगा, फिर भी नीचे पेंदे तक इतना ताप संचालित न हो पायगा कि बर्फ़ पिघल सके (दे० १२९९ पृष्ठ के चित्र में नं० ६)।

बिजली का तार डालकर यदि पानी गर्म करना है तो 'हीटर' को देगची के अन्दर बिल्कुल पेंदे से सटाकर रखना चाहिए, वरना ऊपर रखने पर केवल सतह का पानी गर्म हो पाएगा, नीचे का पानी ज्यों-का-त्यों ठण्डा बना रहेगा। पानी और पारे की संचालन-शक्ति की तुलना करने के लिए, काँच की एक परखनली में पानी और दूसरी में पारा लीजिए। पानी और पारा दोनों ही का आयतन एक-सा रखिए। ताँबे का मोटा तार १२९९ पृष्ठ के नं० ८ चित्र के अनुसार मोड़कर इस प्रकार आँच के ऊपर रखिए कि तार के दोनों सिरे क्रम से पानी और पारे में डूबते रहें। दोनों परखनलियों के चारों ओर पतला काग़ज़ लपेट दीजिए। थोड़ी देर में आप देखेंगे कि पारे पर लिपटा हुआ काग़ज़ दूर तक झुलस जाता है, जबकि पानीवाली नली पर केवल सिरे के नज़दीक का काग़ज़ झुलसता है। निस्सन्देह पारा पानी की अपेक्षा कहीं उत्तम संचालक है।

गर्म पानी की संवाहन-धारा द्वारा समूचे घर को रेडिएटरों (र) की मदद से गर्म करने का प्रबंध

गैसें भी नितान्त अधम संचालक होती हैं। हवा में ताप का संचालन क़रीब-क़रीब नहीं के बराबर होता है। इसी कारण रुई और ऊन आदि फुलफुले कपड़े जाड़े में हमें गर्म रखते हैं। इनके अन्दर रोएँ के बीच ढेर-सी हवा फँसी रहती है। अतः हमारे शरीर की गर्मी इनमें से होकर बाहर नहीं जाने पाती।

जाड़े के दिनों में जिस दिन कड़ाके की सर्दी पड़ती है, अनेक पक्षी पंख फुलाकर बैठते हैं, ताकि परों के बीच ढेर-सी हवा रुक जाय। यह हवा शरीर की गर्मी को बाहर निकलने से रोकती है (१२९९ पृ० के चित्र में नं० १)। ठंडे मुल्कों में कमरों की दीवालें दुहरी बनाई जाती हैं। दोनों दीवालों के बीच लकड़ी का बुरादा या घासफूस फुलफुले तौर पर भर देते हैं ताकि उनके बीच हवा फँसी रहे। फँसी होने के कारण हवा में संवाहन धारा प्रवाहित नहीं हो पाती है और न संचालन द्वारा ही भीतर की गर्मी बाहर निकल पाती है। बर्फ़ रखने के लिए इसी सिद्धान्त

पर काठ के सन्दूक़ भी दुहरी दीवाल के बनाये जाते हैं।

जाड़े में एक मोटे कम्बल की जगह यदि आप दो पतले कम्बल ओढ़ें तो आपको जाड़ा कम मालूम होगा; क्योंकि दो कम्बल ओढ़ने पर उनके बीच बहुत-सी हवा फँसी रह जाती है, और ऊन की अपेक्षा हवा ज़्यादा अधम संचालक है। यही कारण है कि ऊनी कोट पहनने की अपेक्षा ऊनी शाल ओढ़ने पर हमें ठण्ड कम लगती है। शाल के साथ हम बहुत-सी हवा भी अपने चारों ओर लपेट लेते हैं। इसी वजह से कम्बल में लिपटी हुई बर्फ़ भी जल्दी नहीं पिघलती।

हद दर्जे की ठण्ड पहुँचाने पर हवा भी द्रव रूप धारण कर लेती है। द्रव हवा बहुत ठण्डी होती है। यदि द्रव हवा में आपकी उँगलियाँ डुबा दी जायँ तो वे ठिठुरकर एकदम सुन्न पड़ जायँगी—ज़रा-सा झटका लगते ही वे टूटकर हाथ से अलग जा गिरेंगी। किन्तु ऐसी ख़तरनाक द्रव हवा को जब हम अपनी हथेली पर उँडेलते हैं तो हमें बहुत ज़्यादा ठण्ड नहीं मालूम होती। क्योंकि हथेली के स्पर्श में आते ही शरीर की गर्मी से नीचे की थोड़ी-सी द्रव हवा गैस रूप धारण कर लेती है। अब चूँकि ऊपर की ठण्डी द्रव हवा और हमारी हथेली के बीच में गैस रूप में हवा की एक पतली-सी तह मौजूद है और यह ताप की नितान्त अधम संचालक है, इस कारण हमारी हथेली का ताप निकल नहीं पाता और हमें कुछ बहुत ज़्यादा ठण्ड मालूम नहीं होती।

हमने देखा है कि द्रव और गैस दोनों ही ताप के अधम संचालक हैं। इनके अन्दर ताप का प्रवेश केवल संवाहन द्वारा हो सकता है। गैसों में भी द्रव की भाँति ही संवाहन धाराएँ बन जाती हैं। पानी से भरी हुई तश्तरी में एक जलती हुई मोमबत्ती खड़ी कर दीजिए। अब तश्तरी में ही शीशे की एक लम्बी चिमनी इस तरह खड़ी कीजिए कि मोमबत्ती चिमनी के बीच में आ जाय। मोमबत्ती कुछ ही सैकण्ड के अन्दर बुझ जाती है। इसी प्रयोग को अब फिर दुहराइए। इस बार ऊपर चिमनी पर 'T' की शक्ल का एक दफ़्ती का टुकड़ा इस तरह रखिये कि 'T' का निचला सिरा चिमनी में आधी दूर तक पहुँचे। आप देखेंगे कि अब मोमबत्ती बिना किसी रुकावट के जलती रहती है। क्योंकि इस बार आपने चिमनी के अन्दर संवाहन-धारा जारी रखने के लिए सुविधा कर दी है। दफ़्ती के एक ओर से ताज़ी और ठण्डी हवा चिमनी के अन्दर प्रवेश करती है और दूसरी ओर से गर्म और दूषित वायु हलकी होने के कारण निकलकर बाहर भागती है (दे० पृ० १२९९ के चित्र में नं० ७)।

डिट्ज़ लालटेनों में नीचे कल्ले के पास अनेक छिद्र बने होते हैं, इन्हीं में से होकर लालटेन के अन्दर ताज़ी हवा प्रवेश करती है और चिमनी के ऊपर बने हुए सूराख़ों के रास्ते गर्म और दूषित वायु बाहर निकलती है (दे० उक्त चित्र में नं० १०)। नीचेवाले सूराख़ों को काग़ज़ की मदद से बन्द कर दीजिए। लालटेन कुछ ही क्षणों में बुझ जाती है, क्योंकि चिमनी के अन्दर ताज़ी हवा के प्रवेश करने के लिए कोई रास्ता बाक़ी नहीं रहता। ऊपर का सूराख़ बन्द करने पर भी लालटेन बुझ जाती है, क्योंकि दूषित हवा के बाहर जाने का रास्ता अब बन्द हो गया है। इसी सिद्धान्त पर खानों के अन्दर ताज़ी हवा पहुँचाने का प्रबन्ध किया जाता है। प्रत्येक खान में कम-से-कम दो कुएँ (shaft) गलाए जाते हैं। इनमें से एक के नीचे निरन्तर आग जलती रहती है। अतः यहाँ की हवा गर्म होकर एक कुएँ के रास्ते ऊपर उठती है और दूसरे कुएँ से ताज़ी और अपेक्षाकृत ठण्डी हवा नीचे खान में प्रवेश करती है। इस प्रकार खान के अन्दर अबाध रूप से ताज़ी हवा की संवाहन-धारा चलती रहती है।

कमरों के अन्दर ताज़ी हवा पहुँचाने के लिए ऊपर छत के पास रोशनदान (वेन्टीलेटर) बनाये जाते हैं। फेफड़े से निकली हुई गर्म हवा इसी वेन्टीलेटर से होकर बाहर निकल जाती है और ताज़ी हवा खिड़कियों और दरवाज़ों के रास्ते कमरे के अन्दर प्रवेश करती है।

ठण्डे देशों में गर्म पानी की संवाहन-धारा से समूचे घर को गर्म रखते हैं। पानी को एक बड़े बर्त्तन में गर्म करते हैं—इस देगची से गर्म पानी एक नली द्वारा ऊपर चढ़ता है। घर के भिन्न-भिन्न कमरों में गर्मी पहुँचाने के उपरान्त ठण्डा होकर यही पानी एक दूसरे रास्ते से देगची के अन्दर वापस लौट आता है (दे० १३०३ पृ० का चित्र)।

मोटरकार के इंजिन को ठण्डा रखने के लिए भी ठण्डा पानी काम में लाते हैं। इंजिन के चारों ओर घूमकर गर्म पानी जब रेडिएटर में पहुँचता है तो हवा के झोंके से वह फिर ठण्डा हो जाता है और इंजिन का चक्कर लगाने के लिए फिर वापस जाता है (१२९९ पृ० के चित्र में नं० ३)।

उष्ण कटिबन्ध में समुद्र का जल ध्रुव प्रान्तों के जल की अपेक्षा गर्म रहता है, अतः गर्म पानी विषुवत् रेखा से ध्रुवों की ओर सतह के ऊपर-ऊपर जाता है, और ध्रुवों से ठण्डे पानी की धारा पानी की सतह के नीचे-नीचे विषुवत् रेखा की ओर आती है। 'गल्फ़ स्ट्रीम' विषुवत् रेखा की ओर से आती हुई इँगलैंड के समुद्रतट से गुज़रती

है, फलस्वरूप इँगलैंड का जलवायु अधिक ठण्डी नहीं होने पाता।

थाली में परसे हुए गर्म भोजन की महक कमरे भर में फैल जाती है, क्योंकि भोजन-सामग्री से उठते हुए कण गर्म हवा के साथ ऊपर जाकर कमरे में इधर-उधर फैल जाते हैं।

दिन को धूप के कारण समुद्रतट की ज़मीन का तापक्रम पानी के तापक्रम की अपेक्षा ऊँचा चढ़ जाता है, अतः ज़मीन की हवा गर्म होकर ऊपर उठती है और समुद्र से अपेक्षाकृत ठण्डी हवा तट की ओर चलती है। शाम को सूर्यास्त के समय ज़मीन और समुद्र दोनों ही अपना ताप खोते हैं, किन्तु इस क्रिया में ज़मीन पानी की अपेक्षा शीघ्र ठण्डी हो जाती है, अतः अब तट की ओर से समुद्र की ओर हवा चलने लगती है। मछुए समुद्री और स्थल की हवा के सहारे समुद्र में मछली फँसाने के लिए चले जाते और सूर्योदय होते ही समुद्री हवा की मदद से फिर तट पर वापस आ जाते हैं (१२६६ पृ० के चित्र में ४-५)। अब ताप के परिचालन की तीसरी विधि पर हम आते हैं। इस विधि में बीच के पदार्थों को गर्म किये बग़ैर ही ताप एक स्थान से दूसरे स्थान को चला जाता है। एकदम शून्य (वैकुअम) में से होकर ताप का परिचालन श्रेष्ठतम होता है। शून्य में होकर गुज़रने में ताप की शक्ति का कोई भी अंश क्षीण नहीं होने पाता। किन्तु ताप जब किसी भौतिक पदार्थ में से होकर गुज़रता है तो इसका कुछ अंश तो उस पदार्थ में विलीन होकर उसका तापक्रम बढ़ाता, कुछ अंश उस पदार्थ के धरातल से छलककर वापस लौट जाता है; और शेष उस पदार्थ को पार करके आगे बढ़ जाता है। शीशा, हवा, पानी आदि पारदर्शक पदार्थों में से होकर विकीर्ण ताप आसानी से गुज़र जाता है, इस क्रिया में ये पदार्थ तनिक भी गर्म नहीं हो पाते। आतशी शीशे से सूर्य-रश्मियों को जब काग़ज़ के टुकड़े पर केन्द्रीभूत करते हैं तो यह काग़ज़ तप्त होकर जल उठता है, किन्तु आतशी शीशे को छूकर देखिए तो वह ठण्डा ही मालूम पड़ता है! सूर्य की किरणें आतशी शीशे को पार तो कर गईं, किन्तु उन्होंने शीशे को गर्म नहीं किया। यदि बर्फ़ के बने हुए लेन्स (lens) से सूर्य-रश्मियाँ केन्द्रीभूत की जायँ तो भी काग़ज़ का टुकड़ा जल जायगा, यद्यपि बर्फ़ के पिघलने की भी नौबत नहीं आयगी! (दे० इसी पृष्ठ का चित्र)

अँगीठी के सामने दफ़्ती का टुकड़ा खड़ा कर देने से विकीर्ण ताप एकदम रुक जाता है, इससे स्पष्ट है कि हमारे पास अँगीठी से ताप संवाहन-धारा द्वारा नहीं आता है, क्योंकि दफ़्ती के नीचे-ऊपर से होकर भी संवाहन-धारा द्वारा हमारे पास ताप का पहुँचना सम्भव हो सकता था। साथ ही हम इस निष्कर्ष पर भी पहुँचते हैं कि विकीर्ण ताप केवल सीधी रेखाओं के मार्ग से ही आगे बढ़ सकता है। संचालन या संवाहन में यह शर्त लागू नहीं होती।

साधारण हवा विकीर्ण ताप के लिए लगभग पूर्णतया पारदर्शक है। किन्तु पानी की भाप या बादल विकीर्ण ताप को काफ़ी मात्रा में रोककर अपने में विलीन कर लेते हैं। इसी कारण जिस रात को आसमान में बादल छाये रहते हैं, बड़ी उमस रहती है, रात को पृथ्वी की गर्मी विकीर्ण होकर ऊपर आसमान में विलीन नहीं होने पाती। कुछ बादल में विलीन हो जाती है और कुछ बादलों से प्रक्षालित होकर वापस पृथ्वी पर ही लौट आती है। चन्द्रमा के वायुमण्डल में पानी की भाप नहीं है, अतएव वहाँ धूप में चन्द्रमा का धरातल बेहद जलने लगता है और रात को चन्द्रमा का अधिकांश ताप सूखी हवा में से होकर आसानी से निकल जाता है, अतः उसका धरातल उस समय ख़ूब ठण्डा हो जाता है।

विकिरण द्वारा ताप के परिचालन संबंधी एक प्रयोग

आतशी शीशे से सूर्य-रश्मियों को जब काग़ज़ के टुकड़े पर केन्द्रीभूत करते हैं तो काग़ज़ तप्त होकर जल उठता है—उसमें से धुँआ निकलने लगता है! परन्तु आतशी शीशा स्वयं ठंडा ही रहता है!

शीशे में से होकर सूर्य का विकीर्ण ताप आसानी से गुज़र सकता है, किन्तु कम गर्म विकीर्ण ताप शीशे को पार

नहीं कर सकता। इसी सिद्धान्त पर इँगलैंड-सरीखे ठण्डे देशों में शीशे की दीवालों से घेरकर वाटिकाएँ बनाई जाती हैं। ऐसी वाटिकाओं में गर्म देशों के पौधे भी लगाये जाते हैं। सूर्य का विकीर्ण ताप शीशे को पार करके इस वाटिका में प्रवेश कर सकता है, किन्तु वाटिका के अन्दर से ताप शीशे को पार करके बाहर नहीं जा पाता, अतः बाहर की अपेक्षा शीशे के कठघरे के अन्दर कम सर्दी रहती है और उपयुक्त तापक्रम पाकर इसके अन्दर गर्म देशवाले पेड़-पौधे भी अच्छी तरह पनपते हैं।

संचालन और संवाहन दोनों में ही ताप को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने में काफ़ी समय लगता है, किन्तु विकीर्ण ताप का परिचालन अत्यन्त ही तीव्र वेग से होता है। दुपहरी को आसमान में सूर्य के सामने बादल आए नहीं कि हमें एकदम ठण्ड लगी, और ज्यों ही बादल हटे, सूर्य का विकीर्ण ताप पुनः पृथ्वी पर पहुँच जाता है। वास्तव में विकीर्ण ताप की गति १८६००० मील प्रति सैकण्ड है। सूर्य पृथ्वी से ६ करोड़ ३० लाख मील की दूरी पर है, किन्तु इस लम्बे फ़ासले को तय करने में विकीर्ण ताप को केवल साढ़े आठ मिनट लगते हैं!

विकीर्ण ताप को सभी पदार्थ समान मात्रा में विलीन नहीं करते। धूप में काले रंग का खादी का कोट पहनकर चलिए तो पीठ गर्मी के मारे जलने-सी लगती है, किन्तु उसी समय यदि सफेद रंग का रेशमी कोट पहनकर बाहर निकलिए तो उतनी गर्मी मालूम न होगी (दे० १२६६ पृ० के चित्र में नं० ६)। काले रंग की खुरदरी वस्तुएँ विकीर्ण ताप को अच्छी तरह सोखती हैं, किन्तु सफ़ेद रंग की चमकदार पालिशवाली वस्तुओं के अन्दर विकीर्ण ताप कम विलीन हो पाता है। जाड़े की ऋतु में काले कपड़े इसी कारण पहने जाते हैं कि विकीर्ण ताप कपड़ों में खूब जज़्ब हो जाय।

चूल्हे पर चढ़ाये जानेवाले बर्तनों के पेंदे पर काली राख की एक पतली तह चढ़ा दी जाती है ताकि चूल्हे की आँच की गर्मी बर्त्तन के अन्दर आसानी से समा जाय।

सभी वस्तुओं से चारों ओर ताप विकीर्ण भी होता है। रात के अँधेरे में गर्म चिमटा मुँह के पास ले आइए तो उसकी आँच आप फ़ौरन् महसूस करेंगे। जो वस्तु जितने ऊँचे तापक्रम पर होगी उतना ही अधिक ताप उससे विकीर्ण होगा। किन्तु विकीर्ण ताप की मात्रा विकीरक के अकेले तापक्रम पर ही निर्भर नहीं है, बल्कि उसके धरातल की अवस्था पर भी। यदि एक से ही तापक्रम पर दो विभिन्न वस्तुएँ हैं, किन्तु एक का धरातल चिकना, सफ़ेद और चमकदार है और दूसरे का काला और खुरदरा, तो चिकनी वस्तु से कम ताप विकीर्ण होगा और खुरदरी से अधिक। अर्थात् जो पदार्थ विकीर्ण ताप कम सोखते हैं, वे स्वयं भी कम ताप अपने में से विकीरित कर पाते हैं। चूल्हे पर चढ़ानेवाले बर्त्तन का पेंदा काला अवश्य होता है, किन्तु इसका ऊपरी भाग सदैव चिकना और चमकदार रक्खा जाता है ताकि बर्त्तन के अन्दर की गर्मी आसानी से बाहर न निकल जाय। रेलगाड़ी के इंजिन में जिस नली में होकर ब्वॉयलर से भाप सिलिण्डर में जाती है, उस नली को फायरमैन प्रतिदिन पालिश से माँजकर चमाचम रखता है, ताकि उसके अन्दर से भाप की गर्मी विकीर्ण न हो जाय।

संचालन, संवाहन और विकिरण इन तीनों क्रियाओं का भली भाँति अध्ययन करके वैज्ञानिकों ने थर्मस बोतल का निर्माण किया है। थर्मस बोतल का प्रयोग आजकल लगभग सभी के घरों में होने लगा है। इस बोतल के भीतर से न तो ताप बाहर निकल सकता है और न बाहर से ताप भीतर को प्रवेश कर सकता है। इसीलिए इस बोतल में रक्खी हुई चाय बहुत देर तक गर्म बनी रहती है और इसके अन्दर रखी हुई बर्फ़ भी जल्दी नहीं पिघलती। इस बोतल के निर्माण में इस बात की पूरी सावधानी रखी गई है कि ताप का प्रवाह संचालन, संवाहन या विकिरण किसी भी तरीक़े से इस बोतल में से होकर बाहर न जाने पाए।

थर्मस फ्लास्क में दुहरी दीवाल की एक बोतल होती है। भीतर और बाहर की दीवालों के बीच की हवा पम्प के ज़रिये निकाल ली गई होती है—अतः इन दोनों दीवालों के बीच केवल शून्य रहता है। इनके बीच भौतिक पदार्थ न रहने के कारण संचालन या संवाहन में से कोई भी क्रिया जारी नहीं हो सकती। अवश्य विकीर्ण ताप शून्य में से होकर आ जा सकता है। इस क्रिया को रोकने के लिए इन दोनों दीवालों के भीतरी धरातल पर दर्पण की भाँति पालिश कर देते हैं। प्रकाश-रश्मियों की भाँति ताप-रश्मियाँ भी चमकदार धरातल पर पड़ते ही उलटी वापस हो जाती हैं, अतः भीतर का ताप इस दुहरी दीवाल को पार करके न बाहर जा सकता है, और न बाहर का ताप इसे पार कर भीतर ही आ सकता है। इस बोतल में जब कोई गर्म या ठंडा पदार्थ भर दिया जाता है और उसका मुँह कार्क से बंद कर दिया जाता है तो वह ताप का बाहर की ओर परिचालन न होने के कारण लगभग उसी तापक्रम पर घंटों तक बना रहता है (दे० पृ० १३०२ का चित्र)।

नाइट्रोजन के कुछ महत्वपूर्ण और मनोरंजक यौगिक

अमोनिया, हँसानेवाली गैस, नाइट्रिक ऐसिड, आदि

अमोनिया

एक चौड़े मुँह की बोतल में कुछ नौसादर लीजिए और उसमें अनबुझे चूने के कुछ टुकड़े छोड़ दीजिए। बोतल को हिलाकर कुछ देर के लिए रख दीजिए और फिर उसे सूँघिए। यदि आप सावधानी से न सूँघेंगे तो संभव है कि गंध की तीक्ष्णता से व्याकुल होकर आपको नाक ढक लेनी पड़े। अपने किसी योग्य मित्र से मज़ाक करने के लिए, कुसमय में ऊँघते हुए किन्हीं महाशय की नींद भगा देने के लिए, अथवा अफ़ीमची की पिनक उचाट देने के लिए यह एक बड़ा ही अच्छा नुस्खा है। किसी कलियुगी कुंभकर्ण के कान के पास ढोल पीटने की कोई आवश्यकता नहीं, बस इसी बोतल को खोलकर इसका मुँह उसकी नाक के पास कर दीजिए! इसी तीक्ष्ण गंधवाली गैस का नाम 'अमोनिया' है। अपने ज़ुकाम को दूर कर देने के प्रयत्न में बहुधा लोग नौसादर और चूना में इकुलिप्टस तैल मिलाकर सूँघते हैं।

वनस्पति और प्राणि कलेवरों अथवा पदार्थों के सड़ने में जिन गैसों का उत्पादन होता है, उनमें अमोनिया भी एक है। गंदे अस्तबलों और पेशाबख़ानों में इसकी गंध साफ़ मालूम पड़ती है। किसी भी नाइट्रोजन (प्रोटीन)-युक्त जीवपदार्थ को गर्म करने से जो गैसें निकलती हैं, उनमें भी अमोनिया होती है। इसीलिए पहले कभी इसका नाम 'हिरनों के सींगों का अर्क (spirit of hartshorn)' था। पिछले अध्यायों में हाइड्रोजन और नाइट्रोजन का वर्णन तो आप पढ़ ही चुके होंगे। इन्हीं दोनों गंधहीन गैसों के रासायनिक संयोग से नाक में तीर-सी चुभती हुई चढ़ जानेवाली यह अमोनिया गैस बनती है। इसके एक अणु में नाइट्रोजन का एक परमाणु और हाइड्रोजन के तीन परमाणु रहते हैं। हेबर ने पानी से हाइड्रोजन और हवा से नाइट्रोजन निकालकर इन गैसों के संयोग द्वारा यही अमोनिया बनाई थी और सजीव जगत् को सुलभ नाइट्रोजन का अपरिमित भांडार सौंप दिया था।

यदि आपको अमोनिया अपनी प्रयोगशाला में बनाना हो, तो इसके लिए नौसादर और चूना से अधिक सस्ते और अच्छे पदार्थ आपको न मिल सकेंगे—वैसे तो किसी भी अमोनियम लवण तथा कास्टिक सोडा, कास्टिक पोटाश, आदि किसी भी क्षारीय पदार्थ की रासायनिक प्रक्रिया से अमोनिया का उत्पादन होता है। नौसादर का रासायनिक नाम अमोनियम क्लोराइड (NH_4Cl), और चूने का अनबुझे रूप में कैल्शियम ऑक्साइड (CaO) और बुझे रूप में कैल्शियम हाइड्रॉक्साइड [$Ca(OH)_2$] है। दोनों की पारस्परिक प्रतिक्रिया द्वारा कैल्शियम क्लोराइड बनकर रह जाता है और अमोनिया निकल पड़ती है—
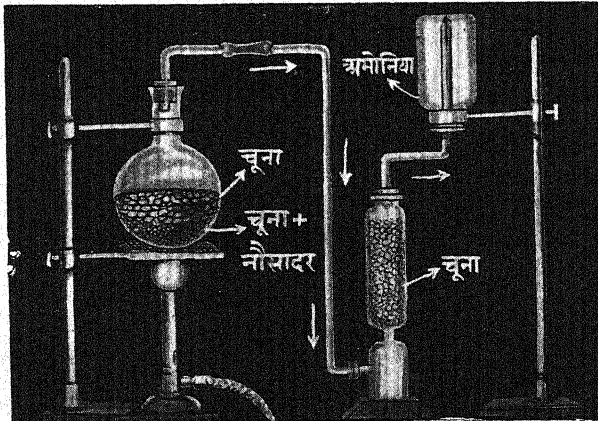
प्रयोगशाला में अमोनिया गैस बनाने की विधि

$$2NH_4Cl + Ca(OH)_2 = 2NH_3 + CaCl_2 + 2H_2O$$
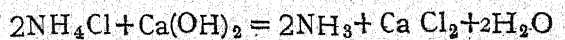
नौसादर   बुझा चूना   अमोनिया   कै०क्लोराइड   पानी

एक भाग नौसादर को दो भाग सूखे तथा पिसे हुए बुझे अथवा अनबुझे चूने से मिलाकर एक कठोर शीशे

के गोल पेंदेवाले फ्लास्क में ले लीजिए। इस मिश्रण को अनबुझे चूने की तह से ढककर फ्लास्क को नली द्वारा अनबुझे चूने के टुकड़ों से भरी हुई एक मीनार से जोड़ दीजिए। पिछले पृष्ठ के अनुसार, इस मीनार की निकास-नली पर एक बोतल अथवा जार औंधा दीजिए। फ्लास्क को गर्म करने पर अमोनिया निकलकर बोतल या जार में इकट्ठा होने लगती है। जलशोषक होने के कारण फ्लास्क की ऊपरी तह तथा मीनार में रक्खा हुआ चूना अमोनिया को शुष्क बना कर उसे गैस-रूप में निकल जाने में सहायता देता है। अमोनिया हवा से लगभग दुगुनी हलकी होती है, अतएव वह औंधाए हुए पात्र में हवा को नीचे हटाकर एकत्र हो जाती है। अमोनिया एक क्षारीय गैस है अर्थात् पानी में घुलकर वह अमोनियम हाइड्रॉक्साइड क्षार का उत्पादन करती है ($NH_3+H_2O=NH_4OH$)। इसी क्षारीय गुण के कारण वह नीले लिटमस अथवा पीली हल्दी से रँगे काग़ज़ को लाल कर देती है। यह देखने के लिए कि पात्र अमोनिया से भर गया है कि नहीं, एक भीगा हुआ लिटमस अथवा हल्दी का काग़ज़ उसके मुँह के पास ले जाइए। यदि वह लाल हो जाय तो पात्र को भरा समझ लेना चाहिए। एक दूसरा उपाय यह है कि एक शीशे की छड़ के सिरे को सांद्र (concentrated) नमक की तेज़ाब (हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड) में डुबाकर पात्र के मुँह तक ले जाइए। यदि पात्र अमोनिया से भरा होगा तो छड़ के तेज़ाब भरे सिरे से घना सफ़ेद धुआँ निकलने लगेगा। अमोनिया हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस से सीधे संयुक्त होकर अमोनियम क्लोराइड (नौसादर) का उत्पादन कर देती है ($NH_3 + HCl = NH_4Cl$)। यह सफ़ेद धुआँ इसी नौसादर के कणों का होता है।

फ़व्वारे का प्रयोग

अमोनिया पानी में अत्यंत घुलनशील होती है। इस घुलनशीलता के कारण एक बड़ा ही मनोरंजक प्रयोग किया जा सकता है। इसे फ़व्वारे का प्रयोग कहते हैं। शीशे के एक बड़े बीकर अथवा तसले में पानी लेकर उसमें थोड़ा-सा फ़ेनाल्फ़थलीन का घोल* छोड़ दीजिए। फिर एक सूखे फ्लास्क में अमोनिया गैस भर लीजिए और उसे औंधे ही रखकर एक ऐसी कार्क से बंद कर दीजिए, जिसमें से होकर अंदर की ओर एक टोंटीदार नली लगी हो (इसी पृष्ठ का चित्र देखिए)। अब टोंटीदार नली का बाहरी सिरा फेनाल्फ़थलीन मिले पानी में अच्छी तरह डुबाकर फ्लास्क के ऊपर या तो अधिक ठंडा पानी अथवा थोड़ा-सा ईथर छोड़ दीजिए। ठंडक से फ्लास्क की हवा सिकुड़ेगी और पानी ऊपर चढ़ेगा। पानी के संपर्क में आते ही अमोनिया उसमें तेज़ी से घुलने लगेगी और उसके रिक्त स्थान में बाहर का रंगहीन पानी लाल होकर तेज़ फ़व्वारे के रूप में भीतर भरने लगेगा। न समझनेवालों को यह प्रयोग जादू-सा दिखाई देगा। केवल अमोनिया ही नहीं किसी भी क्षार की उपस्थिति में फेनाल्फ़थलीन का घोल लाल हो जाता है। यदि आप बाहर के पानी में थोड़ा लिटमस का घोल मिलाकर उसमें कुछ बूँद तेज़ाब डाल दें तो वह लाल हो जायगा, लेकिन भीतर फ़व्वारे के रूप में वह नीला होकर चढ़ेगा। इसी प्रकार हल्दी का पीला पानी चढ़कर लाल हो जायगा। होलीवाला उड़नशील रंग भी अमोनिया के घोल में फेनाल्फ़थलीन मिलाकर ही बनाया जाता है।

अमोनिया गैस जब संकुचित अथवा द्रवीभूत होती है, या जब वह घुलती है तो गर्मी का उत्पादन होता है। इसके विपरीत जब वह प्रसारित अथवा वाष्पीभूत होती है तो ताप के शोषण के कारण ठंडक पैदा होती है। यह अमोनिया के ही लिए नहीं वरन् एक व्यापक सिद्धांत है। पानी में भी यही बात होती है। भीगे कपड़े पहने अथवा भीगे शरीर हवा में खड़े होने से जाड़ा इसीलिए लगता है कि देह पर से वाष्पीकरण शीघ्रता से होने लगता है। तरल अमोनिया पानी से कहीं अधिक वाष्पशील पदार्थ है, अतएव वह थोड़े समय में ही जल्दी-जल्दी वाष्पीभूत होकर बहुत अधिक ठंडक पैदा कर सकती है। एक फ्लास्क में अमोनिया का कुछ प्रबल घोल ले लीजिए और उसे लकड़ी के एक गुटके पर थोड़ा-सा पानी छोड़कर रख दीजिए। अब धौंकनी द्वारा तेज़ी से उसमें हवा बुलबुलाइए। कुछ ही मिनटों में लकड़ी और शीशे के बीच का पानी जम जायगा और फ्लास्क गुटके में चिपका हुआ पाया जायगा। रेफ़्रीजरेटरों तथा शीत-भांडारों में अमोनिया

* इसे बनाने के लिए ६० c. c. स्पिरिट में एक ग्राम फ़ेनाल्फ़थलीन घोल लीजिए; फिर उसमें ४० c. c. पानी छोड़कर एक बोतल में चाहें तो छानकर रख लीजिए।

के ही वाष्पीकरण द्वारा ठंडक पैदा की जाती है। संकुचित अथवा ठंडा करने से अमोनिया सरलतापूर्वक रंगहीन तरल रूप में द्रवीभूत हो जाती है। इस अमोनिया द्रव के गैसीकरण तथा गैस के प्रसरण में ताप का शोषण अत्यधिक मात्रा में होता है। बर्फ़ के कारख़ानों में इसी प्रकार से उत्पादित शीत का उपयोग होता है। पहले संकोचक द्वारा अमोनिया द्रवीभूत कर दी जाती है। इस क्रिया में गर्मी का उत्पादन होता है, अतएव संकोचक से निकली हुई गर्म तरल अमोनिया ऐसी नलियों में प्रवाहित की जाती है जिस पर ठंडे पानी के झरने गिरा करते हैं। यहाँ से वह नमक के घोल के तालाब में प्रविष्ट होती है, किंतु इसके पहले ही वाल्व खोलकर उसका दबाव एकाएक कम कर दिया जाता है, जिससे उसका वाष्पीभवन व प्रसरण और साथ-ही-साथ नमक के घोल से गर्मी का शोषण होने लगता है। इस प्रकार नमक के घोल का तापक्रम बर्फ़ के तापक्रम (O°c) से भी काफ़ी नीचा होजाता है, किंतु नमक का घोल इस तापक्रम पर भी तरलावस्था में ही बना रहता है। इसी तालाब में बर्फ़ के पीपे डूबे रहते हैं। ये ऊपर की ओर निकले और खुले रहते हैं और उनमें भरा हुआ पानी ठंडा होकर बर्फ़ हो जाता है। इस तालाब से अमोनिया फिर संकोचक में पहुँचा दी जाती है (दे० नीचे का चित्र)।

क्षारीय होने के कारण अमोनिया अम्लों को मार देती है और अमोनियम लवण बन जाते हैं। इन लवणों का एक अणु भाग (NH_4) होता है, इसी को अमोनियम कहते हैं। अमोनिया का गैसीय हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड से संयोग बड़ा ही मनोरंजक होता है। यह प्रक्रिया भी न समझने-वालों के सामने जादू के रूप में दिखाई जा सकती है। एक ग्लास में कुछ बूँद सांद्र हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड ले लीजिए, और हिलाकर उसे पेंदे पर फैला दीजिए। इस ग्लास को शीशे अथवा दफ़्ती के एक टुकड़े से ढक दीजिए। इसी प्रकार एक दूसरे ग्लास में अमोनिया का कुछ प्रबल घोल फैला लीजिए। अब ढकनों सहित एक ग्लास को दूसरे ग्लास पर औंधाकर ऊपर से एक कपड़ा डाल दीजिए। फिर कपड़े के अंदर ही दोनों ढकनों को खींचकर अलग रख दीजिए। अब किसी वस्तु को जलाकर अथवा सिगरेट पीकर धुआँ उन ग्लासों की ओर फेंकिए। कपड़ा उठाने पर दोनों ग्लास घने सफ़ेद धुएँ से भरे दिखाई देंगे! दर्शक बेचारों को क्या पता कि उन सांद्र घोलों से निकली हुई अदृश्य गैसों ने ही संयुक्त होकर नौसादर के इस धुएँ का उत्पादन किया है (दे० पृ० १३१० का चित्र 'धुँए का जादू')!

बड़े परिमाण में अमोनिया के लवण ठंडे हलके अम्लों में अमोनिया को मिश्रित करके बनाए जाते हैं। इस प्रकार
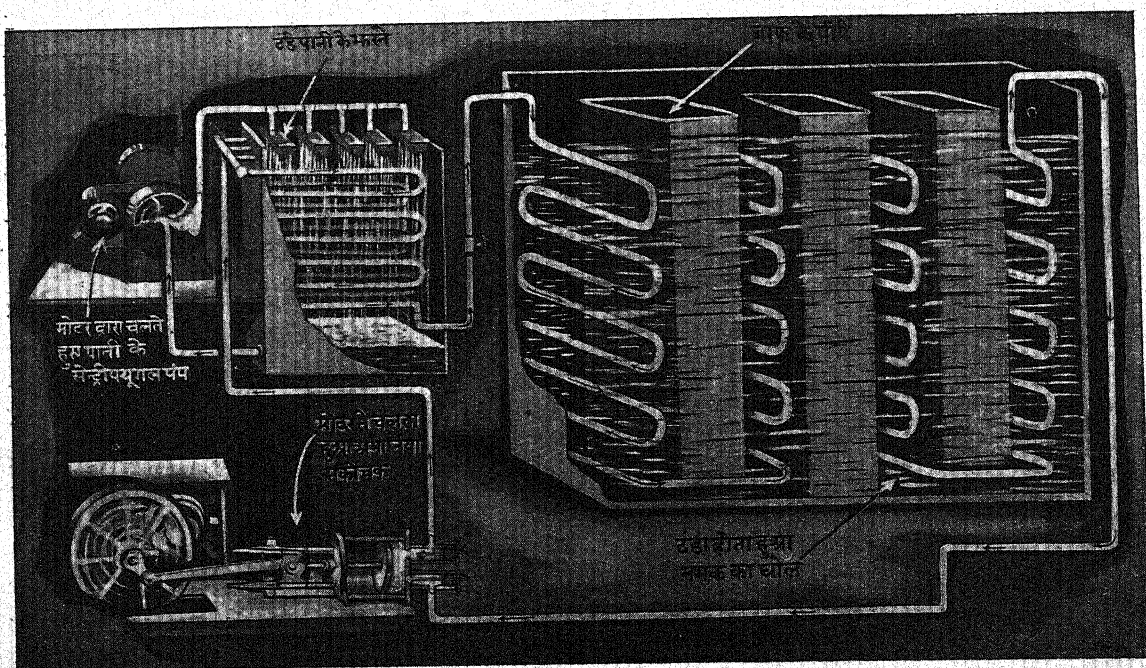
अमोनिया की सहायता से बर्फ़ कैसे जमाई जाती है? (विवरण के लिए इसी पृष्ठ का मैटर पढ़िए)

उत्पादित घोल से, सुखाने पर, लवण के रवे पृथक हो जाते हैं। बहुधा कुछ अन्य रासायनिक क्रियाएँ भी काम में लाई जाती हैं। नौसादर या तो अमोनिया और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल को मिलाकर, अथवा नमक (सोडियम क्लोराइड) और अमोनियम सल्फ़ेट के घोल को उबालकर बनाया जाता है। दूसरी क्रिया में अणु भागों के विनिमय द्वारा अमोनियम क्लोराइड और सोडियम सल्फ़ेट बन जाते हैं। लगभग सभी सोडियम सल्फ़ेट कम घुलनशील होने के कारण पृथक् हो जाता है और घोल में नौसादर रह जाता है। शेष सोडियम सल्फ़ेट तथा अन्य अशुद्धियों से नौसादर को ऊर्ध्वपातन द्वारा पृथक् कर लेते हैं।

अन्य अमोनियम लवणों की भाँति नौसादर एक श्वेत घुलनशील रवेदार पदार्थ होता है। घुलने पर वह ताप को शोषित करता है, अतएव घोल ठंडा हो जाता है। गर्म करने पर वह बिना पिघले ही अमोनिया और हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड की अदृश्य वाष्पों में विघटित हो जाता है, और यह वाष्पें ठंडे स्थान में पहुँचते ही फिर नौसादर के रूप में जम जाती हैं। संक्षेप में, नौसादर ऊर्ध्वपतित होता है। यह लवण बर्तनों में कलई करने और टाँका लगाने में बहुत काम आता है। गर्म धातु-पृष्ठ पर नौसादर से निकली हुई हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड आक्रमण करके उस धातु की क्लोराइड का उत्पादन कर देती है, और क्लोराइड वाष्पशील होने के कारण उड़ जाती है। इस प्रकार धातुतल बिलकुल साफ़ हो जाता है, और टिन अथवा टाँका उस पर सरलता से चढ़ जाता है। बिजली की शुष्क अथवा लेकलांची सेलों में भी नौसादर का उपयोग होता है।
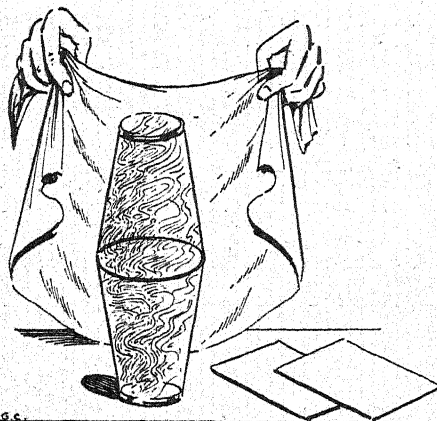
धुएँ का जादू

महत्वपूर्ण रासायनिक खाद अमोनियम सल्फ़ेट [$(NH_4)_2 SO_4$], और महत्त्वपूर्ण विस्फोटक अमोनियम नाइट्रेट (NH_4NO_3) का उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके हैं। यह विस्फोटक अमोनिया को नाइट्रिक ऐसिड में शोषित करके बनाया जाता है ($NH_3 + HNO_3 = NH_4NO_3$)। २५०°c के ऊपर गर्म करने पर वह भाप, नाइट्रोजन और ऑक्सिजन में विच्छेदित होकर विस्फुटित हो जाता है—

$$2\,NH_4NO_3 = 4\,H_2O + 2N_2 + O_2$$

सन् १६२१ में 'बैडिशे एनिलिन ऐण्ड सोडा फैब्रिक' नामक एक सुविख्यात जर्मन फैक्टरी में अमोनियम नाइट्रेट का एक महाभयंकर धड़ाका हुआ था। कार्यालय के भवन उड़कर साफ़ हो गए और उनकी जगह पर २५० फ़ीट चौड़ा और ५० फ़ीट गहरा एक खड्ड हो गया। इसमें ४५० जानें गईं और लगभग डेढ़ अरब रुपये का नुक़सान हुआ। इस धड़ाके की आवाज़ डेढ़ सौ मील तक पहुँची थी, और ५३ मील पर स्थित फ्रैंकफ़र्ट शहर में इसके हालेडोले से बहुत-कुछ हानि हुई थी। किंतु आज तक यह पता नहीं कि इस धड़ाके का कारण क्या था।

धीरे-धीरे गर्म करने पर अमोनियम नाइट्रेट 'हँसानेवाली गैस' का उत्पादन करता है। इसका वर्णन यहीं आगे दिया हुआ है।

अमोनियम कार्बोनेट अमोनिया का एक अन्य लवण है। अस्थायी होने के कारण वह विच्छेदन द्वारा बराबर अमोनिया निकालता रहता है। इसीलिए उसमें हमेशा अमोनिया की तीक्ष्ण गंध आया करती है और लोग उसे ज़ुकाम आदि में सूँघने के काम में लाते हैं।

अमोनियम डाइक्रोमेट [$(NH_4)_2\,Cr_2O_7$] नामक लवण अपनी मनोरंजक विच्छेदन-क्रिया के कारण उल्लेखनीय है। इसके अणुसूत्र में Cr क्रोमियम धातु का संकेत है। यह लवण अन्य डाइक्रोमेटों की भाँति गहरे नारंगी रंग का होता है। इसके थोड़े-से छोटे-छोटे स्फटिकों को परखनली में गर्म करने से वे अपने आप चिनगारी देते हुए विच्छिन्न होने लगते हैं। नाइट्रोजन और भाप तेज़ी से निकल जाती है, और हरी चाय से मिलता-जुलता क्रोमिक ऑक्साइड का बहुत-सा आयतनिक परिमाण कुछ परखनली के अंदर रह जाता है और कुछ बाहर बिखर जाता है—

$$(NH_4)_2Cr_2O_7 = N_2 + 4H_2O + Cr_2\,O_3$$
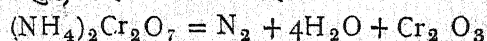
अमोनिया ऑक्सिजन और क्लोरीन के वातावरण में प्रज्ज्वलनशील होती है। उसकी हाइड्रोजन इनसे संयुक्त होकर क्रमशः जल और हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड में परिणत हो जाती है और नाइट्रोजन गैस मुक्त हो जाती है। यह हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड अधिक अमोनिया से

संयुक्त होकर नौसादर में बदल जाती है। अमोनिया के घोल में अधिकाधिक क्लोरीन गैस प्रवाहित करने पर, अथवा क्लोरीन गैस को नौसादर के गुनगुने घोल के संपर्क में लाने पर नाइट्रोजन ट्राइक्लोराइड (NCl_3) नाम के भयानक विस्फोटक का उत्पादन हो जाता है। नाइट्रोजन क्लोराइड पानी से ड्योढ़े से भी अधिक भारी एक पीला द्रव होता है। इसकी खोज ड्यूलांग ने की थी जिसमें उसे अपनी एक आँख और तीन अँगुलियाँ गँवा देनी पड़ी थीं। इसका बनाना सदैव महासंकटमय होता है, कारण वह ज़रा-सी ही छेड़छाड़ से और बहुधा प्रत्यक्षतः अकारण ही विस्फुटित हो जाता है। इसका कोई ठीक नहीं कि वह किस समय फट पड़े। इसी कारण ऐसे बहुत कम रसायनज्ञ हैं जिन्होंने नाइट्रोजन क्लोराइड देखा है। वास्तव में यह पदार्थ भयानकतम और प्रचंडतम विस्फोटकों में से एक है, किंतु उसकी शक्ति का नियंत्रण करने में अभी मनुष्य सफल नहीं हुआ! यदि वह किसी दिन सफल हो सका, तो नाइट्रोजन क्लोराइड दोहरा काम करेगी—प्रचंड विस्फोटक का और विषाक्त गैस के उत्पादक का भी, क्योंकि इससे निकली हुई क्लोरीन युद्धोपयोगी विषालु गैस होती है।

हँसानेवाली गैस का विचित्र प्रभाव (दाहिने कॉलम का मैटर देखिए)

अमोनिया के सांद्र घोल में आयडीन मिलाने से एक काला पदार्थ अवक्षिप्त होता है। इसे नाइट्रोजन आयडाइड कहते हैं। इसका अणुसूत्र $NH_3.NI_3$ लिखा जाता है, कारण वह अमोनिया और नाइट्रोजन ट्राइआयडाइड के एक-एक अणु के संयोग से बना होता है। यह भी एक विस्फोटक पदार्थ है, किंतु नाइट्रोजन क्लोराइड का सा प्रचंड नहीं। यदि सावधानी से काम लिया जाय, तो नाइट्रोजन आयडाइड के साथ तमाशा भी किया जा सकता है। अवक्षिप्त नाइट्रोजन आयडाइड को छन्ना काग़ज़ द्वारा छान लीजिए और जब वह भीगा ही रहे उसी समय चिमटी द्वारा छन्ना कागज़ के छोटे-छोटे टुकड़े कर लीजिए। सूखने पर ये टुकड़े छड़ी द्वारा छूने से विस्फुटित होंगे। यदि ये टुकड़े पास-पास कतार में रख दिए जायँ और उनमें से एक विस्फुटित कर दिया जाय, तो उसके विस्फोटन के धक्के से दूसरे टुकड़े अपने आप विस्फुटित होते चले जायँगे। भीगा नाइट्रोजन आयडाइड अधिक स्थायी होता है, किंतु सूखने पर वह मक्खी के चलने, फूँकने अथवा धूलिकण के गिरने तक से विस्फुटित हो जाता है! विस्फोटन होने पर अदृश्य नाइट्रोजन हवा में मिल जाती है, किंतु आयडीन का बैंगनी धूम दिखाई देता है।

'हँसानेवाली गैस'

नाइट्रोजन ऑक्सिजन से भिन्न दशाओं में संयुक्त होकर पाँच ऑक्साइडों का उत्पादन करती है। नाइट्रस ऑक्साइड (N_2O) व नाइट्रिक ऑक्साइड (NO) अदृश्य, और नाइट्रोजन ट्राइऑक्साइड (N_2O_3) व नाइट्रोजन परॉक्साइड (NO_2) भूरे लाल रंग की गैसें होती हैं। नाइट्रोजन पेण्टाक्सॉइड (N_2O_5) सफेद मणिभीय पदार्थ होता है, किंतु तनिक भी गर्मी पाकर पिघलकर भूरी लाल वाष्प में परिणत हो जाता है। इन्हीं रूपों में इन सबसे अधिक उपयोगी और मनोरंजक नाइट्रस ऑक्साइड गैस होती है।

इसे न्यूनतर परिमाणों में सूँघने से चित्त उत्तेजित और उन्मत्त हो जाता है, और बहुधा सूँघनेवाला उन्माद में आकर अट्टहास करने लगता है। इसीलिए इस गैस का नाम 'हँसानेवाली गैस' पड़ा। वास्तव में, विभिन्न व्यक्तियों पर उसका प्रभाव एक ही सा नहीं पड़ता। कोई हँसने, तो कोई नाचने-कूदने, और कुछ लोग विचित्र प्रकार का व्यवहार करने लगते हैं (दे० इसी पृष्ठ का चित्र)। यदि थोड़ी-सी ही देर के लिए हवा की नाइट्रोजन और ऑक्सिजन इस गैस के रूप में संयुक्त हो जायँ, तो मनुष्य विचित्र आचरणों द्वारा अद्भुत दृश्य उपस्थित कर दें! अधिक गैस सूँघने से सूँघनेवाले में पीड़ा की चेतना जाती रहती है; इसके बाद वह अचेत हो जाता है, यहाँ तक कि बहुत देर तक सूँघते रहने से मृत्यु तक हो सकती है। इस चेतनानाशक

गुण के कारण नाइट्रस ऑक्साइड छोटे और विशेषतः दाँत संबंधी चीर-फाड़ों में बहुत काम में लायी जाती है।

यह गैस ठोस अमोनियम नाइट्रेट को एक गोल पेंदे के फ्लास्क में धीरे-धीरे गर्म करके बनाई जाती है—

$NH_4 NO_3 = N_2O + 2H_2O$
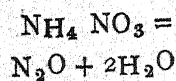
विस्फोटन के संकट से बचने के लिए तापक्रम २००°C से बढ़ने नहीं दिया जाता। बहुधा अमोनियम सल्फेट व सोडियम नाइट्रेट का मिश्रण गर्म किया जाता है। इसमें अणुभागों के विनिमय द्वारा अमोनियम नाइट्रेट और सोडियम सल्फेट बनता रहता है, और यह अमोनियम नाइट्रेट विच्छिन्न होकर निरापद नाइट्रस ऑक्साइड का उत्पादन करता रहता है। इस नाइट्रस ऑक्साइड में नाइट्रोजन परॉक्साइड, क्लोरीन, नाइट्रिक ऑक्साइड और अमोनिया भी कुछ-न-कुछ मिली रहती हैं। रोगी के लिए हानिकारक होने के कारण इन अशुद्धियों का निकाल डालना आवश्यक होता है। अतएव, गैस को एकत्र करने के पहले क्रमशः कास्टिक पोटाश घोल, लौहस (फेरस) सल्फेट घोल, तथा सांद्र सल्फ्यूरिक ऐसिड में बुलबुला लिया जाता है। नाइट्रोजन परॉक्साइड व क्लोरीन कास्टिक पोटाश में, नाइट्रिक ऑक्साइड लौहस सल्फेट में, और अमोनिया सल्फ्यूरिक ऐसिड में शोषित हो जाती हैं। नाइट्रस ऑक्साइड ठंडे पानी में बहुत घुलती है, अतएव वह गर्म पानी अथवा पारद को नीचे हटाकर जारों अथवा अन्य गैसपात्रों में इकट्ठी कर ली जाती है।

ऑक्सिजन की भाँति नाइट्रस ऑक्साइड में भी वस्तुएँ तेज़ी और अधिक उजाले के साथ जलती हैं; कारण, नाइट्रस ऑक्साइड सरलता से विच्छिन्न होकर अपनी ऑक्सिजन जलती हुई वस्तु को दे देती है और उसमें ऑक्सिजन का अंश हवा में ऑक्सिजन के अंश से अधिक होता है।

नाइट्रिक ऑक्साइड गैस आकाश में तड़ित् द्वारा बना करती है, और बर्कलैण्ड और आइड व आस्टवल्ड की विधियों में पहले इसी का उत्पादन होता है। प्रयोगशाला में वह ताँबे पर आधी नाइट्रिक ऐसिड और आधे पानी के मिश्रण की क्रिया से बनाई जाती है। एक फ्लास्क में ताँबे के कुछ छीलन ले लिये जाते हैं, और उसमें थिसल कीप द्वारा नाइट्रिक ऐसिड मिलाकर उस-

छोटे और विशेषतः दाँत-संबंधी चीरफाड़ों में मनुष्य को पीड़ा के प्रति अचेत कर देने के लिए 'हँसानेवाली गैस' का व्यवहार होता है। कोने में दिखाया हुआ यंत्र इस गैस को सुँघाने में बहुधा काम में लाया जाता है। नीचे पड़े हुए सिलिण्डरों से गैस रबड़ के थैले में भर ली जाती है। फिर उससे वह मुँह पर ढक देनेवाली टोपी के भीतर पहुँचकर एक नली द्वारा बाहर निकलती रहती है। ऊपर एक नया सुँघानेवाला यंत्र प्रदर्शित है, जिसका आविष्कार हाल ही में अमेरिका में हुआ है। इस यंत्र द्वारा रोगी स्वयं हवा और नाइट्रस ऑक्साइड का एक मिश्रण सूँघता रहता है, और यह पूर्णतः अचेत नहीं होता। गैस के प्रभाव से उसे दर्द नहीं होता। दर्द मालूम होते ही वह हाथ में रक्खी रबड़ की बल्ब को दबाने लगता है जिससे नाइट्रस ऑक्साइड अधिक मात्रा में पहुँचने लगती, और दर्द बंद हो जाता है।

का नीचे का सिरा ऐसिड में डुबा दिया जाता है। पहले भूरे लाल रंग की गैस दिखाई देती है, किंतु शीघ्र ही वह हट जाती है और रंगहीन नाइट्रिक ऑक्साइड पानी को नीचे हटाकर इकट्ठी कर ली जाती है। इस गैस का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण यह है कि हवा या ऑक्सिजन के संपर्क में आते ही वह ऑक्सिजन से संयुक्त होकर भूरे लाल रंग की नाइट्रोजन परॉक्साइड में परिणत हो जाती है; और पानी में घुलकर यही नाइट्रोजन परॉक्साइड नाइट्रिक ऐसिड का उत्पादन कर देती है। नाइट्रिक ऐसिड के उत्पादन की प्राकृतिक और कृत्रिम विधियाँ इसी क्रिया पर निर्भर हैं। रंग-परिवर्त्तन के कारण यह क्रिया मनोरंजक भी होती है। नाइट्रिक ऑक्साइड को अभी तक कोई सूँघ नहीं सका है; कारण, नाक में चढ़ने के पहले ही वह हवा के संपर्क से परिवर्तित हो चुकी है।

चिलियन शोरे से नाइट्रिक ऐसिड का उत्पादन (दे० दाहिने कालम का मैटर)

प्रयोगशाला में शुद्ध नाइट्रोजन परॉक्साइड सरलता - पूर्वक बनाने के लिए एक मज़बूत परखनली में सीस (लेड) नाइट्रेट गर्म किया जाता है--

$$2Pb(NO_3)_2 = 2PbO + 4NO_2 + O_2$$

लेड नाइट्रेट — लेड मोनाक्साइड (मुर्दासंख) — नाइट्रोजन परॉक्साइड — ऑक्सिजन

नाइट्रोजन परॉक्साइड बर्फ़ में गड़ी हुई एक चूल्हाकार नली में प्रवाहित करके द्रवीभूत कर ली जाती है, और उससे निकलती हुई ऑक्सिजन पानी को हटाकर इकट्ठी कर ली जा सकती है। केवल लेड नाइट्रेट ही नहीं, अन्य बहुतेरे नाइट्रेट व नाइट्रिक ऐसिड भी गर्म करने पर इस गैस का उत्पादन करते हैं।

नाइट्रोजन ट्राइऑक्साइड नाइट्रिक ऑक्साइड और नाइट्रोजन परॉक्साइड को मिश्रित कर देने से बनती है $(NO + NO_2 = N_2O_3)$ नाइट्रोजन पेण्टॉक्साइड का महत्व केवल यही है कि वह नाइट्रिक ऐसिड की अम्लीय ऑक्साइड है, अर्थात् वह पानी से तीव्रता से संयुक्त होकर नाइट्रिक ऐसिड में परिणत हो जाती है। यह फ़ास्फ़ोरस पेण्टाक्साइड नामक प्रबलतम जलशोषक और सांद्र नाइट्रिक ऐसिड के मिश्रण को गर्म करने से पैदा होती है।

नाइट्रिक ऐसिड

सोनारों के यहाँ आपने नाइट्रिक ऐसिड (शोरा की तेज़ाब) का उपयोग शायद देखा होगा। चाँदी, ताँबा, जस्ता आदि धातुओं को इस अम्ल में घुलते देर नहीं लगती। केवल धातुओं को घोलने में ही नाइट्रिक ऐसिड का उपयोग नहीं होता—मनुष्य प्रतिवर्ष लाखों टन नाइट्रिक ऐसिड विस्फोटकों और नाइट्रेट-खादों के ही उत्पादन में ख़र्च कर डालता है। इसके अलावा सेलुलायड (नाइट्रोसेलुलोज़ + कपूर)—जिससे फ़िल्म, सिलाइयाँ, कंघी, डब्बी, तथा अनेकानेक अन्य शृङ्गार-संबंधी वस्तुएँ, आदि बनती हैं—तथा कलोडियन (नाइट्रोसेलुलोज़ का अल्कॉहल और ईथर के मिश्रण में घोल), जिससे पारदर्शक झिल्लियाँ, कृत्रिम रेशम, वार्निशें आदि अनेकानेक चीज़ें बनाई जाती हैं, नाइट्रिक ऐसिड की ही देन हैं। बिजली की कुछ सेलों में भी इसका उपयोग होता है। इसके उत्पादन की बर्कलैण्ड और आइड तथा आस्टवल्ड की विधियों का वर्णन हम कर चुके हैं। चिलियन शोरे पर सांद्र सल्फ्यूरिक ऐसिड की क्रिया द्वारा भी इसका उत्पादन होता है। ढलवाँ लोहे के भपके में शोरा और गंधकाम्ल का मिश्रण गर्म किया जाता है जिससे नाइट्रिक ऐसिड वाष्परूप में निकल जाती है और सोडियम सल्फेट भपके में रह जाता है। यह नाइट्रिक ऐसिड वाष्प, हवा अथवा पानी से ठंडी होती हुई नलियों में प्रवाहित होकर द्रवरूप में इकट्ठी होने लगती है। उबलने पर नाइट्रिक ऐसिड का कुछ अंश जलवाष्प, नाइट्रोजन परॉक्साइड, तथा ऑक्सिजन में विच्छिन्न हो जाता है ($4HNO_3 = 2H_2O + 4NO_2 + O_2$), अतः इस विधि में निकली हुई गैसों को झरते हुए ठंडे पानी की मीनार में शोषित करके फिर नाइट्रिक ऐसिड में बदल लिया जाता है। प्रयोगशाला में नाइट्रिक ऐसिड तैयार करने के लिए थोड़ा-सा चिलियन शोरा (सोडियम नाइट्रेट) अथवा भारतीय

शोरा (पोटैशियम नाइट्रेट) शीशे के एक भपके में ले लीजिए, और कुछ सांद्र गंधकाम्ल मिलाकर उसे बालुका-कुंडी (Sand bath) अथवा अस्बेस्टस लगी हुई जाली पर रखकर गर्म कीजिए। थोड़ी देर में नाइट्रिक ऐसिड के विच्छेदन से बनी हुई भूरी-लाल नाइट्रोजन परॉक्साइड तथा स्वयं नाइट्रिक ऐसिड की वाष्प से भपका भर जायगा, और फिर बूँद-बूँद करके नाइट्रिक ऐसिड फ्लास्क में जमा होने लगेगी। इस प्रकार जो नाइट्रिक ऐसिड बनती है वह नाइट्रोजन परॉक्साइड के उसमें घुले होने के कारण पीली होती है। इसके भीतर धौंकनी द्वारा हवा को बुलबुलाने से नाइट्रोजन परॉक्साइड निकल जाती है और ऐसिड रंगहीन हो जाती है।

केवल शोरा ही नहीं, किसी भी नाइट्रेट लवण को सांद्र सल्फ्यूरिक ऐसिड के साथ गर्म करने से नाइट्रिक ऐसिड स्रवित होने लगती है। इसका कारण यह है कि नाइट्रिक ऐसिड गंधकाम्ल से कहीं अधिक वाष्पशील है—नाइट्रिक ऐसिड ८६°C. पर और सल्फ्यूरिक ऐसिड ३३८°C. पर उबलती है। अतः नाइट्रेट लवण को गंधकाम्ल के साथ गर्म करने पर अणुभागों के विनिमय द्वारा नाइट्रिक ऐसिड बनकर वाष्पीभूत हो जाती और सल्फेट व शेष सल्फ्यूरिक ऐसिड बच रहती है।

प्रयोगशाला में शोरा से नाइट्रिक ऐसिड का उत्पादन

शुद्ध नाइट्रिक ऐसिड एक रंगहीन धूमोत्पादक द्रव होता है। किसी रंगहीन बोतल में नाइट्रिक ऐसिड कुछ खाली भरने पर कुछ दिनों में पीली पड़ जाती है और बोतल का रिक्त भाग भूरे लाल धूम से भरा दिखाई देता है। बात यह है कि नाइट्रिक ऐसिड की वाष्प उजाले में धीरे-धीरे विच्छिन्न होती रहती है। वह इसीलिए लाल रंग की बोतलों में रक्खी जाती है। सांद्र नाइट्रिक ऐसिड बड़ी ही काटक वस्तु होती है। उसे त्वचा में न लगनी देनी चाहिए, नहीं तो घाव हो सकता है। खाल पर पड़ जानेवाली गुत्थियाँ बहुधा सांद्र नाइट्रिक ऐसिड के स्पर्श से काट दी जाती हैं। धोखे से छू भर जाने से खाल पीली पड़ कर कुछ दिनों में निकल जाती हैं। यह पीला रंग खाल पर पिक्रिक ऐसिड के बन जाने के कारण होता है। यदि नाइट्रिक ऐसिड कपड़े पर पड़ जाय, तो उसे तुरंत अमोनिया या यदि वह न मिले तो अन्य किसी क्षार के घोल से धो देना चाहिए। कुछ ही सेकंडों की देर हो जाने से कपड़ा कट जाता है। नाइट्रिक ऐसिड, प्रबल अम्ल होने के कारण, नीले लिटमस को तुरंत लाल कर देती है; और क्षारों, अनेक धातुओं तथा ग्लिसरीन, सेलुलोज़ आदि कार्बनिक यौगिकों को नाइट्रेटों में परिवर्तित कर देती है। धातुओं के नाइट्रेट नाइट्रिक ऐसिड के ही लवण कहे जाते हैं, कारण वे इसी अम्ल से हाइड्रोजन का स्थान धातुओं के ले लेने से बनते हैं।

नाइट्रिक ऐसिड से विच्छेदन द्वारा ऑक्सिजन निकलती है, इसीलिए वह एक प्रबल ऑक्सीकारी पदार्थ है। सांद्र नाइट्रिक ऐसिड में रक्त-तप्त कोयला डाल देने से वह तेज़ उजाले के साथ जल उठता है, और ख़ूब गर्म किए लकड़ी के बुरादे पर उसे छोड़ने से बुरादे में आग लग जाती है। नाइट्रिक ऐसिड अनेक धातुओं को नाइट्रेटों में परिणत करके घुला देती है। अन्य अम्लों में धातु घुलने पर हाइड्रोजन निकलती है। नाइट्रिक ऐसिड हाइड्रोजन को निकलने का मौक़ा ही नहीं देती, क्योंकि निकलते ही वह उसे ऑक्सीकरण द्वारा पानी में बदल देती है और वह स्वयं अवकृत होकर प्रायः नाइट्रोजन के ऑक्साइडों के रूप में निकल जाती है। किसी धातु के साथ नाइट्रोजन की कौन-सी ऑक्साइड उत्पन्न होगी, यह नाइट्रिक ऐसिड की सांद्रता तथा तापक्रम पर निर्भर रहता है। सांद्र नाइट्रिक ऐसिड का एक भाग और सांद्र हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड के चार भागों को मिलाने से जो मिश्रण बनता है, उसे 'अम्लराज' कहते हैं, क्योंकि अनेक अन्य अघुलनशील पदार्थों के अलावा उसमें धातुओं के राजा सुवर्ण और प्लैटिनम तक घुल जाते हैं! बात यह है कि नाइट्रिक ऐसिड हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड की हाइड्रोजन को ऑक्सीकरण द्वारा पानी में परिवर्तित कर देती है, और इस प्रकार हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड से निकलती हुई 'नवजात' क्लोरीन अत्यधिक क्रियाशील होने के कारण सुवर्ण, प्लैटिनम आदि पर आक्रमण कर उन्हें घुलनशील क्लोराइडों में बदल देती है। इसी रासायनिक क्रिया को न समझ सकने के कारण पुरातन लोगों ने शेर (अम्लराज) द्वारा हड़पे जा रहे सूर्य (सुवर्ण) के प्रतीक द्वारा समझाया था!
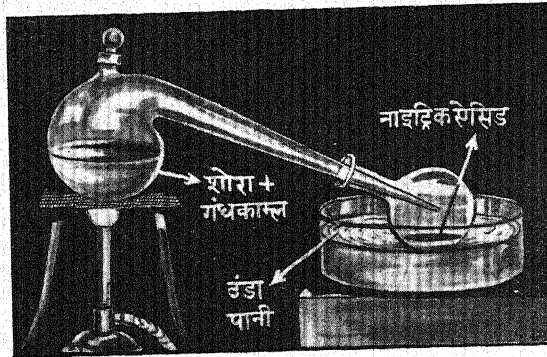
सत्य

मनुष्य के चारों ओर सत्य की धारा वेग से बह रही है। एक छोटे अंकुर में वृद्धि और विकास के जो नियम हैं, वे सत्य के साक्षात् प्रतीक हैं। परंतु वस्तुतः सत्य का अंतिम स्रोत क्या है, इस प्रश्न की मीमांसा जितनी आवश्यक है उतनी ही जटिल भी है।

सत्य और जीवन का गहरा सम्बन्ध है। एक प्रकार से सत्य ही जीवन है। जो जीवन सत्यमय नहीं वह निस्तेज मालूम होता है। सत्य एक ज्योति या प्रकाश है। सत्य के बिना जीवन ऐसे ही सूना है जैसे बिना दीपक के आवास। सत्य को उत्पन्न करने के लिए ईश्वर ने भी तप किया, इस कल्पना में अनुभव की सचाई छिपी हुई है। जिन लोगों ने सत्य को जीवन में साक्षात् प्राप्त करने के लिए अपनी हड्डियों को गलाया था, उनका यह अनुभव था कि सत्य के लिए मनुष्य को स्वयं सती होना पड़ता है। सत्य कहने-सुनने की बात नहीं है। यह ठीक है कि पूर्व-काल में सत्य का अनुभव कितने ही मनुष्यों ने किया है और यह भी अवश्य है कि इस समय भी अनेक मनुष्यों के जीवन में सत्य का दर्शन है, परन्तु इससे हमको क्या लाभ? दूसरों के तापने से हमारे शीत का निराकरण नहीं हो सकता। हमको जब तक स्वयं अग्नि के ताप की प्राप्ति न हो तब तक हम अपने शीत-क्लेश को नहीं खो सकते। यह एक अटल नियम है कि प्रत्येक व्यक्ति को दूसरों के द्वारा जाने और अनुभव में लाये हुए जीवन-सत्य से लाभ उठाने के लिए स्वयं उसका साक्षात्कार करना चाहिए। सत्य को जीवन में अपनाने का जो आनंद है वह तो स्वयं प्राप्त करने की वस्तु है। एक व्यक्ति सत्य जैसी अमूल्य निधि की प्राप्ति के लिए जो तप या साधना करता है उससे समस्त मानव जाति या समाज को बल मिलता है। ब्रह्मचर्य या पवित्रता जीवन की एक सचाई है। जो व्यक्ति इस प्रयोग को जीवन में सफल कर दिखाता है वह असंख्य प्राणियों के मन में उस सत्य के प्रति श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न करता है। एक के अनुभूत सत्य से इस प्रकार अनेक लोग लाभान्वित हो सकते हैं, पर उसके सच्चे आनंद तक पहुँचने के लिए हमको स्वयं उतना मार्ग चलना पड़ेगा।

सत्य के विषय में कहा जाता है कि वह त्रिकाल से अबाधित है। यह बात यद्यपि ठीक है, फिर भी हर युग में मनुष्य-समाज सत्य के साथ एक नया संबंध स्थापित करता है। प्रत्येक युग अपने लिए अपनी रीति से ही सत्य को खोजने का प्रयत्न करता आया है। हमारे पूर्वजों ने जीवन और समाज के विषय में जिस प्रकार सत्य मार्ग का आश्रय लिया था, हमारा दृष्टिकोण उससे परिवर्तित हो गया है। जिस प्रकार प्रत्येक पीढ़ी में पूर्वजों के ही रक्त की धारा प्रवाहित होती है, परन्तु फिर भी उस पीढ़ी के जीवन का समस्त ओज उसके अपने रक्त के वीर्य पर निर्भर रहता है, उसी प्रकार जीवन के सत्य की कथा है। ज्ञान की साधना में तत्पर प्रत्येक जाति अपने सहस्रों हाथों को फैलाकर सत्य रूपी पर्वत को उठाने का प्रयत्न करती हुई देखी जाती है। इस प्रयत्न की रूपरेखा और प्रेरक शक्ति के विविध प्रकार हो सकते हैं। वाल्मीकि को जिस प्रेरणा से सत्य की प्रतीति हुई यह आवश्यक नहीं कि उसी का पारायण हमारे जीवन में भी हो। परन्तु वाल्मीकि के सत्यात्मक अनुभव की जो रमणीयता है उसमें सभी सहृदयों को मुग्ध करने की क्षमता है।

सत्य की धारा

मनुष्य के चारों ओर सत्य की धारा वेग से बह रही है। एक छोटे अंकुर में वृद्धि और विकास के जो नियम हैं वे सत्य के साक्षात् प्रतीक हैं। सूर्य की अनन्त रश्मियाँ, स्वच्छन्द बहती वायु, चन्द्र का मनोहर प्रकाश और मेघ की वारिधाराएँ ये सब सत्य का अमृत संदेश हमारे पास

लाती हैं। इन्हें देखकर हमें विश्वास होता है कि विधाता ने जिस नियम की आधारशिला पर इस विराट् सृष्टि का ढाँचा खड़ा किया है उसकी छाया सदा हमारे पास है। प्रकृति की इन शक्तियों में जो अन्तर्यामी सूत्र पिरोया हुआ है वह सृष्टि का सत्य है। इनके कार्य-संचालन के जो नियम हैं सत्य उनसे भिन्न कुछ नहीं है। हम कह सकते हैं कि सर्वत्र द्यु लोक में और अन्तरिक्ष मंडल में जो कुछ कार्य हो रहा है उसमें जगन्नियन्ता के सत्य संकल्प का स्पष्ट प्रभाव है। इन प्राकृतिक विधानों में हस्तक्षेप करने की शक्ति अनृतधर्मा मनुष्य की सामर्थ्य से बाहर है। जहाँ मनुष्य की गति नहीं वहाँ ईश्वर का हाथ ही है। पृथ्वी पर होनेवाले परिमित कार्यों में ही मनुष्य का हस्तक्षेप सम्भव है। उन्हीं में हमें अनृत के दर्शन होते हैं, अन्यत्र सब जगह देवराज्य या सत्य का साम्राज्य अप्रतिहत बना हुआ है।

वैदिक परिभाषा के अनुसार देव सत्य और मनुष्य अनृत भाव से युक्त होते हैं—

सत्यमेव देवाः। अनृतं मनुष्याः।

(श० १।१।१।४)

समस्त कर्मकांड के आरम्भ में ही वैदिक ऋषियों ने इस नियम की घोषणा कर दी थी। देव सत्य हैं, मनुष्य अनृत हैं। जीवन के यज्ञ में हम अनृत से सत्य की ओर बढ़ते हैं—

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि।

'इस व्रत के द्वारा मैं झूठ को छोड़कर सच को अपनाता हूँ।' सत्य भाव की प्राप्ति ही समस्त यज्ञों का फल है।

सत्य का व्रत

सत्य भाव में आरूढ़ होने के लिए व्रत आवश्यक है। देव सदा सत्यमय बने रहते हैं; क्योंकि उनके व्रत नित्य हैं। सूर्य के व्रत में क्या कभी किसी प्रकार का स्खलन देखा या सुना गया है? दिन और रात के चक्र में सृष्टि के आरम्भ से आज तक तिल भर भी अन्तर नहीं पड़ा। जल के प्रवाह और मेघों के आकाश में सम्प्लवन के नियम भी अपनी-अपनी धुरी को पकड़े हुए हैं। ऋतुओं के चक्र की गति में भी अटल व्रत का अस्तित्त्व है। यह सब और इन्हीं के सदृश सैकड़ों सहस्रों ध्रुव विधान हमारे सामने नित्य घटित होते रहते हैं। इनके मूल में ओत-प्रोत एकरसता को वैदिक ऋषियों ने दैवी व्रत कहा है। भौतिक जगत् में वरुण के इन दिव्य व्रतों का उल्लङ्घन करने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं है। वैज्ञानिकों की प्रयोगशालाएँ दैवी व्रतों की अपरिवर्त्तनशील नित्यता को आधार मान कर ही जीवित हैं। इसी बात में मनुष्य का देवों से अन्तर है। दैवी विधान पर्वतों की तरह टिकाऊ और मानवीय विधान बुदबुदों की तरह अस्थिर देखे जाते हैं। यही मनुष्यों में प्रविष्ट अनृत भाव है। जो मनुष्य जितना ही अधिक दैवी व्रत की दृढ़ता अपना लेता है वह उतना ही देवत्व के अधिक समीप पहुँचता जाता है। जो जीवन में सत्य के व्रत को अपनाता है उसी का जीवन दीक्षित है। दीक्षा से सत्य उत्पन्न होता है और सत्य में दीक्षा छिपी रहती है—

यः सत्यं वदति स दीक्षितः।

कौ० ७।३

सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठिता भवति।

श० १४।६।६।२४

व्रत से रहित जीवन उस जहाज़ की तरह है जिसके नाविक ने अपने गन्तव्य स्थान का निश्चय न किया हो। व्रत पर आरूढ़ होने से जीवन में बल प्राप्त होता है। व्रतहीन जीवन को निरुद्दिष्ट दौड़ ही कहना चाहिए। जिसके संकल्पों में मेरुदण्ड का अभाव है वह उत्तम से उत्तम सुविधा और सामग्री प्राप्त करके भी जीवन में किसी प्रकार का निर्माण नहीं कर सकता। अथर्ववेद में कहा है कि जो सत्यवादी है उसी को प्राण अर्थात् जीवन ऊँचा उठाता है—

प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आदधत्।

शतपथ ब्राह्मण में सत्य की उपमा अग्नि से दी है। जिस प्रकार जलती हुई अग्नि में घृत की आहुति डालने से अग्नि अधिक प्रदीप्त होती है उसी प्रकार जो उत्तरोत्तर सत्य का पालन करता जाता है वह अधिकाधिक तेज का सञ्चय करता हुआ नित्य प्रति कल्याण की ओर बढ़ता है। इसी प्रकार अनृत की उपमा उस अग्नि से दी गई है जिसके ऊपर जल का सिञ्चन किया जाय। अनृत से भरे हुए जीवन का तेज नित्य घटने लगता है और मनुष्य प्रतिदिन अधिकाधिक पाप में सनता जाता है*।

---

* स यः सत्यं वदति यथाग्नि ँ समिद्धन्तं घृतेनाभिषिञ्चेदेव ँ हैन ँ स उद्दीपयति तस्य भूयो भूय एव तेजो भवति श्वः श्वः श्रेयान्भवत्यथ योऽनृतं वदति यथाग्नि ँ समिद्धं तमुदकेनाभिषिञ्चेदेव ँ हैन ँ स जासयति तस्य कनीयः कनीय एव तेजो भवति श्वः श्वः पापीयान्भवति तस्मादु सत्यमेव वदेत्।

(शत० २।२।२।१६

जिस प्रकार सत्य का उचित सेवन मनुष्य के जीवन को तारता है उसी प्रकार सत्य के साथ खिलवाड़ उसको नष्ट-भ्रष्ट भी कर सकता है। जो सत्य की शक्ति को पाकर उसके साथ हलका व्यवहार करता है उसके लिए फिर जीवन में थाह पाना कठिन हो जाता है। सत्य से पैरों के नीचे की पृथ्वी के समान जीवन में जो आधार मिलता है वह यदि हमारे हाथ से निकल जाय, तो फिर कहीं ठिकाना नहीं रहता। अनृत में लिप्त मनुष्य के लिए आशा है कि सत्य के द्वारा उसके जीवन का उद्धार कभी हो जाय, परन्तु सत्य के साथ मोल-भाव करनेवाले के लिए कोई आशा नहीं।

ऋषि ने ठीक ही कहा है कि जो अविद्या में फँसा है वह तो अँधेरे में है, पर जिसने विद्या के साथ अपना व्यवहार कुटिल बना लिया है उसका बन्धन बहुत ही कठोर है। जो अन्धकार में है उसे प्रकाश प्राप्त हो सकता है, पर जिसने प्रकाश रहते हुए आँखें बन्द कर ली हों उसे कभी नहीं सूझ सकता। एक व्यक्ति जो अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग में एक-सा है, वह चाहे नास्तिक भी हो तो भी श्रेष्ठ है, परन्तु जिसके भीतरी और बाहरी जीवन में मेल नहीं है, वह यदि बाहर से ईश्वर पर विश्वास भी प्रकट करे तो भी उसके भीतर उस विश्वास की लौ कभी प्रकट न होगी।

लघु उपाय

सत्य का व्रत जटिल मानवीय जीवन की सब समस्याओं को सुलझाने के लिए एक सीधा रास्ता है। हिन्दुओं में सत्य को नारायण का रूप कहा गया है। सत्य के रूप में ईश्वर के दर्शन की कल्पना कितनी हृदयग्राही है! जो सत्य है वही नारायण है। सत्य रूपी नारायण का व्रत ही जीवन का सच्चा व्रत है। कथा है कि एक बार मर्त्यलोक का परिभ्रमण करते हुए नारद ने सब प्राणियों को नाना प्रकार के क्लेशों से युक्त और नाना प्रकार के पापकर्मों से दुःख पाते हुए देखा—

मर्त्यलोके जनाः सर्वे नाना क्लेशसमन्विताः।
नाना योनिसमुत्पन्नाः पच्यन्ते पापकर्मभिः॥

यह सत्य है कि यहाँ सब मनुष्य किसी-न-किसी दुःख से दुःखी हैं। संसार में दुःख है इसका अनुभव करके बुद्ध का चित्त भी द्रवीभूत हो गया था। करुणा से आर्द्रचित्त होकर नारद ने विष्णु से पूछा कि मनुष्यों के इस दुःख के शमन का कोई लघु उपाय या सीधा मार्ग बताइए। यदि यह कहा जाय कि योग की साधना से अथवा ध्यान और समाधि से अथवा बड़े-बड़े यज्ञों से मनुष्य दुःखों से छूट सकता है तो सम्भव है यह बात सच भी हो, परन्तु इस उपाय से कितने कम मनुष्यों को लाभ हो सकता है? इसलिए नारद का प्रश्न एकदम उस सीधे उपाय को जानने के लिए है जिसके द्वारा दुःख-शोक का शमन होकर मनुष्य सुखी बन सके। विष्णु ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया, उससे स्पष्ट है कि सत्य का व्रत ही वह व्रत है, जो स्वर्गलोक में और मर्त्यलोक में सर्वत्र फल देनेवाला है और जिसके पालन से मनुष्य इस लोक में सुख भोगकर परलोक में मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है—

सत्यनारायणस्यैवं व्रतं सम्यग्विधानतः।
कृत्वा सद्यः सुखं भुक्त्वा परत्र मोक्षमाप्नुयात्।

सत्य के व्रत का ठीक विधान सर्वत्र विजयप्रद कहा गया है। सत्य के आश्रय से दरिद्र धन प्राप्त कर सकता है। परतन्त्रता में बँधा हुआ मनुष्य बन्धन से छूट सकता है और भय से ग्रसित मनुष्य अभय प्राप्त कर सकता है। सत्य की आधारशिला इतनी दृढ़ है। चातुर्वर्ण्यात्मक समाज के जीवन में सत्य के पालन और प्रयोग की अनेक कथाएँ और इतिहास पहले बन चुके हैं और आगे भी बनते रहेंगे। परन्तु इन नाना रूपों के पीछे सत्य का सनातन भाव सदा एक-सा बना रहता है। मानवी जीवन में जब कभी दुःख और रोग का आक्रमण होता है तभी जानना चाहिए कि हमसे जान में अथवा अनजाने किसी न किसी प्रकार सत्य का अतिक्रमण हुआ है। उस असत्य को पहचानकर पुनः सत्य का आश्रयण ही जीवन में कल्याण के लिए आवश्यक है।

सत्य का स्रोत

दैवी जीवन सत्य के व्रत के साथ बँधा रहता है। मनुष्य के अन्तःकरण में स्थित दैवी मन उसको इस सत्य व्रत के साथ संयुक्त रखने की निरन्तर प्रेरणा करता रहता है। जितना अधिक हम इस अन्तःमन के आदेशों का पालन करते हैं उसी मात्रा में हम सत्य के समीप या उससे संयुक्त रहते हैं। सत्य और असत्य के विवेक के लिए अन्तःमन या अन्तःकरण की यह सनातनी प्रेरणा दार्शनिक मत से मनुष्य के लिए एक अमूल्य शक्ति है। वस्तुतः सत्य का अन्तिम स्रोत क्या है, यह प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है। हमको सत्य का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है, अथवा किस प्रकार प्राप्त हुए ज्ञान को हम सत्य समझें, इस प्रश्न की यथार्थ मीमांसा जितनी आवश्यक है उतनी ही जटिल है। तर्क के धनी नैयायिकों ने सत्य के निर्णय के लिए अनेक प्रमाणों का ढाँचा खड़ा किया है। कितने ही हेत्वाभास और निग्रहस्थानों के जगज्ज्वाल से यह तर्क-प्रणाली अत्यन्त दुरूह बन गई है। भारतीय नव्य न्याय

में किसी वस्तु के शुद्ध लक्षण की परिभाषा स्थिर करने के लिए अवच्छेदक और अवच्छिन्न की एक विचित्र परिपाटी का आविष्कार हुआ। प्रारम्भ में यद्यपि निर्दोष सत्य की प्राप्ति के लिए यह प्रयत्न रहा होगा, परन्तु आगे चलकर इसने स्वतंत्र प्रतिभा का कचूमड़ निकाल दिया। ज्ञान-प्राप्ति के साधनों की निर्मल और शान्तिदायिनी धारा तार्किक पचड़ों के रेगिस्तान में बिल्कुल सूख गई। संस्कृत साहित्य के पिछले तीन सौ वर्षों का इतिहास इसका साक्षी है। प्रज्ञा के द्वारा सत्य की खोज करने का उदाहरण इस काल के साहित्य में नहीं मिलता।

भगवान् शंकराचार्य ने, जिनके समान प्रतिभाशाली सत्य के समीक्षक बहुत कम हुए हैं, सत्य तक पहुँचने के लिए प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणों की इस असमर्थता को बहुत अच्छी तरह पहचान लिया था। यह बात कुछ विचित्र-सी है कि जिस दर्शनशास्त्र में एकान्त सत्य की प्राप्ति के लिए ही सब कुछ आयोजन हो, वहीं उन प्रमाणों का अनादर किया जाय जिनको मानवी बुद्धि ने बहुत छानबीन के बाद सत्य की पहचान के लिए स्थिर किया है! वस्तुतः ज्ञेय वस्तु के स्वरूप-भेद से प्रमाणों में भी आस्था-अनास्था हो जाती है। लौकिक व्यवहारों में लौकिक प्रमाणों का ऊँचा स्थान शंकर को भी मान्य था। न्यायालय में जिस सत्य का निर्णय होता है उसके लिए तर्क और प्रमाण अनिवार्य रूप से अपेक्षित हैं। परन्तु लौकिक व्यवहारों का क्षेत्र परिमित है। जीवन के सत्य की जिज्ञासा जहाँ आरम्भ होती है वहाँ सांसारिक पदार्थों का व्यवहार पीछे छूट जाता है—

सर्वव्यवहाराणामेव प्राग् ब्रह्मात्मता—

विज्ञानात्सत्यत्वोपपत्तेः। (शंकर ब्रह्मसूत्र २।१।१४)

अर्थात् समस्त लौकिक व्यवहार तभी तक सच्चे हैं जब तक ब्रह्म और आत्मा की एकता का विज्ञान नहीं होता। यहाँ स्पष्ट ही ज्ञेय-सत्य दो धरातलों से देखा जाता है—लौकिक और पारमार्थिक। इन्हीं को जड़ जगत् और चेतन आत्मा का पृथक् क्षेत्र कहेंगे। दोनों का विस्तार हमारे सामने है। प्रत्येक मनुष्य का अत्यन्त घनिष्ट संबंध दोनों से है। कोई भी इनकी चुनौती से सदा के लिए नहीं भाग सकता। दोनों क्षेत्रों का सत्य अलग-अलग है। व्यवहार का सत्य परमार्थ में सत्य नहीं। क्या हम नहीं देखते कि जब तक हम साधारण व्यवहारों में संलग्न हैं हमारा दृष्टि-कोण दूसरी तरह का होता है। स्त्री-पुत्र-पौत्र, परिवार, धन, मान, यश आदि को हम कितना टिकाऊ समझते हैं, और सदा अपने जीवन के मूल्य को उन बट्टों से आँकते रहते हैं! इस क्षेत्र में दौड़-धूप करनेवाले व्यक्ति को इसी में रस आता है। जीवन के सत्य का यह एक पक्ष है और इसे अनृत या माया कहकर हम इससे छुटकारा नहीं पा सकते। इस पक्ष का यथार्थ निराकरण तो तभी होता है जब हमारे जीवन में ज्ञान जीता-जागता सत्य बन जाता है। जिस प्रकार साधारण आदमी के लिए संसार रस-मय है, उसी प्रकार अथवा उससे भी अधिक ज्ञानी के लिए आत्मतत्त्व रसप्रद होता है। व्यवहार का रस परमार्थ में नीरस हो जाता है। परमार्थ में जीवन के मूल्य को आँकने के मापदण्ड बदल जाते हैं। वहाँ जो मन और कर्म का सत्य है, वह इस जीवन के सत्य से भिन्न है। उस सत्य का निर्णय मनुष्य की प्रज्ञा से होता है। प्रज्ञा बुद्धि से भी उत्कृष्ट है। बुद्धि तर्क और प्रमाण के द्वारा सत्य का निर्णय करती है। प्रज्ञा* सत्य का मानसिक साक्षात्कार करती है। बुद्धि का साम्राज्य पृथ्वी पर है। प्रज्ञा पंख लगाकर आकाश में विहार करती है। मानवी जगत् में आज तक जो कुछ भी विशिष्ट मूल्य का विचार-कोष संगृहीत हुआ है, सब प्रज्ञा की देन है। सत्य के लिए प्रज्ञा कामधेनु है। मन, वचन और कर्म का जितना घनिष्ट समीकरण प्रज्ञा से होता है, केवल बुद्धि के तर्क-वितर्क से नहीं। मानव-जगत् की सबसे बड़ी समस्या प्रज्ञावान् मनुष्यों की प्राप्ति है। उनका सत्य संसार को कल्याणप्रद नीतिमत्ता की ओर ले जा सकता है। इस समय प्राकृतिक नियमों के सत्य को पहचानने में वैज्ञानिक मस्तिष्क को जो सफलता मिली है वह अभूतपूर्व है, उससे मानव जाति को बल मिल गया है। परन्तु जब तक मनुष्य को प्रज्ञा की प्राप्ति न होगी तब तक बल पर शासन करनेवाले उच्च मानव-वंश का विकास न हो सकेगा। प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू विचार और कर्म की एकता को सत्य का सर्वोत्तम स्वरूप मानता था। यही प्रज्ञात्मक सत्य का लक्षण है। इस युग में मनुष्य विचार तो करता है, परंतु तदनुसार कर्म करने का उत्तरदायित्व नहीं अनुभव करता। इसी से विचार और कर्म के बीच में चौड़ा पाट बन गया है। जीवन की नदी विचार और कर्म के दो किनारों के बीच में बही है। दोनों का सुन्दर समन्वय ही जीवन का सर्वोत्तम सत्य है। विश्व की रचना में इस समन्वय का सबसे उत्तम उदाहरण देखने में आता है। इसीलिए ऋषि ने कहा है—

एतत् सत्यं ब्रह्मपुरम्। (छान्दोग्य ८।१।५)

अर्थात्, 'यह ब्रह्म की पुरी सत्य है।'

* **प्रज्ञा**—Intuition, या Higher Intelligence.

पृथ्वी की कहानी

आल्प्स पर्वतमाला की प्रसिद्ध हिमानी या ग्लेशियर—'मैर-द-ग्लेस'

तुषार और हिम का कार्य

'हिमानी' और 'हिमावरण' की कहानी

पृथ्वी की रचना में जल का सबसे प्रमुख हाथ है। जल के वायव्य, सलिल और स्थूल तीनों ही रूप पृथ्वी के महान् आकारों के जन्म में सहायक होते हैं। वायुमण्डल के वायव्य जल की कहानी और उसके कार्य के विषय में हम पहले ही बता चुके हैं। जल के विभिन्न सलिल रूपों (नदियों, झीलों, स्रोतों और पाताली धाराओं) के कार्यकलाप की कथा भी हम सुना चुके हैं। पृथ्वी के ऊपर जितना भी जल आता है, वह जिस प्रकार भी हो सकता है अपने मूल निवास-स्थान (सागर) की ओर पहुँचने की चेष्टा में रत रहता है। इसके लिए जल को अनेकों प्रयत्न करने पड़ते हैं। अपने एक-एक अंश को संगठित करके वह धारा बन जाता है और छोटी-छोटी धाराओं के सम्मिलन से नदियों आदि का रूप धारण करके बड़े वेग से सागर की ओर दौड़ता है। सागर तक पहुँचने में उसे जिन-जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, वह उन सभी पर विजय प्राप्त करता है। बड़े-बड़े विशाल भूधरों को काट-काटकर वह कणों में बिखेर देता है और उन कणों को भी स्थल पर छोड़ना नहीं चाहता ताकि कहीं वे एकत्रित होकर फिर उसका विरोध न करें। उनको बहा ले जाकर वह अपने घर में जमा कर लेता है और वहाँ सदैव अपने बोझ से नीचे दबाता रहता है। भूमण्डल के विविध दृश्य, मैदान और घाटियाँ, झीलें और वन आदि सब इसी जल-देवता की क्रिया का परिणाम है। इसीलिए हमारे पूर्वजों ने इसे 'वरुण' देवता की उपाधि दी थी और वे इसकी पूजा करते थे।

परन्तु जल के विरोधी भी शान्त होनेवाले नहीं हैं। सलिल और वायव्य रूप में जल को बाँधने की व्यर्थ चेष्टा उनको हतोत्साहित नहीं करती। वे भी अपने प्रयत्न में रत हैं, और जल को 'स्थूल रूप' (solid state) में परिणत करके अपने सर्वोच्च स्थलों पर जमा कर देते हैं, जिससे वह न तो भाग सके और न उड़ ही सके। जल भला क्यों हार मानने लगा! वह तो बड़ा शक्तिशाली है। दासत्व भला उसको कहाँ पसन्द! वह तो रस्सी तुड़ाकर भागने की चेष्टा करता ही रहता है। अपने प्रयत्न में वह किस प्रकार सफल होता है, साथ ही अपने शत्रुओं का मान मर्दन करके किस प्रकार उनको तोड़-फोड़कर तथा उनके खण्डों को घिस-घिसाकर अपने घर पहुँच जाता है, इसी की कहानी का पहला अध्याय 'हिमानी' (Glacier) और 'हिमावरण' (Ice-sheet) की कहानी है।

'हिमानी' का जन्म

हिमक्षेत्र—तुषारपात की क्रिया जलवायु के ऊपर निर्भर है। उष्ण कटिबन्धवाले प्रदेशों में केवल ऊँचे पर्वतों और पठारों पर तुषारपात होता है। शीतोष्ण कटिबन्धस्थित प्रदेशों में मैदानों और घाटियों की नीची भूमि पर भी तुषारपात होता है, परन्तु गर्मी के दिनों में वह विलुप्त हो जाता है। ध्रुवप्रदेशों में अधिकांश स्थलों पर विशाल क्षेत्रफलवाले भूमिखण्ड निरन्तर तुषारमण्डित रहते हैं। ऊँचे अक्षांश और अधिक ऊँचाईवाले प्रदेशों में कुछ पर्वतों के शिखरों पर शीत ऋतु में इतनी अधिक बर्फ़ पड़ती है कि वह सब गरमी में पिघल नहीं पाती। इस प्रकार प्रत्येक वर्ष बर्फ़ अधिकाधिक होती जाती है। बर्फ़ से निरन्तर ढके हुए ऐसे प्रदेश ही 'हिमक्षेत्र' (Snow-fields) कहलाते हैं।

हिमरेखा—किसी स्थल की सबसे कम ऊँचाई, जहाँ पर निरन्तर हिमक्षेत्र बना रहता हो, 'हिमरेखा' (Snow-line) कहलाता है। विभिन्न स्थानों पर हिमरेखा की ऊँचाई विभिन्न है। ध्रुवप्रदेशों में हिमरेखा बहुत कम ऊँचाई पर ही पाई जाती है, परन्तु भूमध्यरेखा पर इसका पता बहुत ऊँचे पर्वतों की चोटियों पर मिलता है। ग्रीनलैण्ड में हिमरेखा की ऊँचाई २००० फ़ीट है, दक्षिण अलास्का में ५,००० फ़ीट, राकी पर्वतों में ११००० फ़ीट और भूमध्यरेखा

के ऊपर एण्डीज़ पर्वतों पर १८००० फ़ीट है।

जिन स्थानों में तुषारपात बहुत अधिक मात्रा में और बहुत थोड़े काल के अन्तर से होता है, वहाँ के हिमक्षेत्रों में तुषार की बड़ी मोटी-मोटी पर्तें जम जाती हैं और तुषार के मोटे पिण्ड धीरे-धीरे हिम (बर्फ़) में परिणत होने लगते हैं। तुषार रुई के गालों के समान फूला और हल्का होता है। परन्तु जब उसका विस्तार और उसकी मोटाई अधिक हो जाती है तब अपने ही बोझे के प्रभाव से वह घनीभूत हो जाता है और तुषार का प्रत्येक पर्त घना होकर हिम का छोटा-सा पिण्ड बन जाता है। जिन देशों में तुषारपात होता रहता है वहाँ के निवासी तुषार के हिम में परिवर्तन होने की क्रिया से भली भाँति परिचित होंगे, परन्तु जिन्हें कभी तुषारपात देखने का सुअवसर नहीं मिला है उन्हें इसकी कल्पना ही करनी पड़ेगी।

यदि तुषार बराबर गिरता ही जाता है तो उसके भार से हिम अधिक स्थूल होता जाता है और थोड़े ही काल में हिमशिलाओं की रचना हो जाती है। हिमशिलाओं को देखने से यह प्रतीत होता है कि पतले-पतले पर्तों को एक दूसरे पर जमा दिया गया है। प्रत्येक पर्त्त किसी एक समय में होनेवाले तुषारपात का द्योतक है। कहीं-कहीं पर्तों के बीच में मिट्टी, कंकड़ और धूल भी दिखाई देती है, जिससे मालूम होता है कि दो तुषारपात की क्रियाओं के बीच पर्याप्त अन्तर पड़ गया और धूल आदि को हिमशिला पर बैठ जाने का अवसर मिल गया है।

हिमानी (Glacier)—जब हिमशिलाओं की अधिकता हो जाती है और उस पर तुषारपात बारम्बार होता ही रहता है, तब हिमक्षेत्र की एक ऐसी अवस्था हो जाती है कि तनिक भी और बोझा बढ़ते ही वह नीचे ढाल की ओर खिसकने लगता है। हिमक्षेत्र का खिसकना हिम और तुषार के भार के अतिरिक्त पहाड़ों के ढाल और तापक्रम पर भी निर्भर है। हिमक्षेत्र नीचे की ओर खिसकता है और साथ ही चारों ओर, जहाँ स्थान मिलता है, फैलता जाता है। हिमशिलाओं का जो अंश इस प्रकार अपना स्थान छोड़कर आगे बढ़ने लगता है, और निश्चित मार्ग से जलधारा के समान बहने लगता है उसको हिमानी या ग्लेशियर (Glacier) कहते हैं। हिमक्षेत्र में जब तक तुषारपात होता रहता है और हिमानी की रचना होती रहती है, तब तक यह हिमानी रूपी बर्फ़ की नदी बर्फ़ को नीचे की ओर बहाती रहती है। बहते हुए हिमपिण्ड का नाम ही ग्लेशियर है। इसलिए वास्तव में हिमक्षेत्र और हिमानी या ग्लेशियर में कोई विशेष अन्तर नहीं माना जा सकता। तुषारकण जैसे ही हिमक्षेत्र में एकत्रित होते हैं उनमें एक प्रकार से जीवन-सा आ जाता है और उनका स्थूल रूप अपने मोटापे के भार को वहन करने में अशक्त होने के कारण नीचे की ओर रपटना आरम्भ कर देता है। अन्त में तुषार, हिम, हिमक्षेत्र और हिमानी आदि जल के सभी स्थूल रूप ग्लेशियर के रूप में बह निकलते हैं। ग्लेशियर का तात्पर्य यह नहीं है कि हिम जल में परिणत होकर नदी के रूप में बह निकलता है। वरन् हिमानी या ग्लेशियर जल के स्थूल रूप बर्फ़ या हिम की धारा है, जो जलधारा के समान ही हहराती हुई पर्वतों की घाटियों में तथा ढालू पठारों पर बहती है।

हिमानी उत्पत्ति के स्थान पर बहुत चौड़ी होती है, क्योंकि उसका आरम्भ विस्तृत हिमक्षेत्र से होता है, जो बहुधा पर्वतों की ऊँची खुली चौड़ी चोटियों पर बहता है। चोटी से उतरकर जब हिमानी नीचे आती है तब उसको पर्वतों की संकीर्ण घाटियों में होकर आगे बढ़ना पड़ता है। इसीलिए हिमानी ऊपरी भाग में अधिक चौड़ी होती है, परन्तु ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों संकीर्ण होती जाती है। हिमानी के संकीर्ण होने के कारण ऊपर विस्तृत हिमक्षेत्र में उसकी अदृश्य चाल (गति) संकीर्ण घाटियों में साफ़ दिखाई देने लगती है। फिर भी इसकी दैनिक गति इतनी मन्द होती है कि साधारणतः लोग इसे स्थिर ही समझने की भूल कर बैठते हैं।

हिमानी की चाल—हिमानी के बहने की गति का सर्वप्रथम अनुसन्धान १८२७ ई० में स्विस प्रोफ़ेसर ह्यूजी (Hugi) ने किया था। उसने उत्तरी आल्प्स पर्वत के आर (Aar Glacier) नामक हिमानी पर एक कुटिया बनाई और कुटिया की गति की जाँच आरम्भ की। १८४१ ई० में यह कुटिया बहकर ४७०० फ़ीट आगे निकल गई। अर्थात् १४ वर्ष में इस हिमानी ने केवल ४७०० फ़ीट का मार्ग तय किया। इससे यही प्रतीत होता है कि हिमानी एक फ़ुट प्रतिदिन के हिसाब से आगे बढ़ी। हिमानी का वेग मध्य में अधिक तीव्र होता है। तली और किनारों पर रुकावट पड़ने के कारण वेग कुछ मन्द हो जाता है। फिर भी इसकी दैनिक गति एक या दो फ़ुट से अधिक नहीं होती।

प्रोफ़ेसर फोर्ब्स (Forbes) ने हिमानी की चाल की गणना करके १८५८ ई० में एक अभूतपूर्व भविष्यवाणी की थी। मॉन्ट ब्लैंक (Mont Blanc) नामक पर्वत के डिस बोसन्स (des Bossons) नामक ग्लेशियर के उद्गम-

स्थान के पास १८२० ई० में तीन पथ-प्रदर्शक बर्फ़ की चट्टानों के नीचे दब गए थे। प्रो० फोर्बस ने अपनी राय दी थी कि इन तीनों की लाशें हिमानी के अन्तिम छोर पर सन् १८६० ई० के लगभग निकलेंगी। उनकी बात एकदम सत्य प्रतीत हुई। १८६१ ई० में उनके अवशेष प्रगट हुए। यह स्थान दुर्घटनास्थल से चार मील के लगभग आगे था। गणना से देखा जाय तो हिमानी की चाल एक या दो फ़ुट प्रतिदिन से अधिक नहीं हो सकती।

आल्प्स प्रदेश की हिमानियाँ इससे भी धीरे चलने के लिए प्रसिद्ध हैं। परन्तु अलास्का प्रदेश की हिमानियों की चाल बहुत आश्चर्यजनक है। इनमें से कुछ की चाल चालीस फ़ीट प्रति दिन तक पाई गई है। ग्रीनलैण्ड की कुछ हिमानियाँ इससे भी अधिक तीव्रता से बहती हैं। इनमें से कुछ की दैनिक प्रवाह-गति ६० फ़ीट से भी अधिक समझी जाती है। हिमानी की प्रवाह-गति का धीमा और तीव्र होना कई बातों पर निर्भर होता है। यदि हिमानी का विस्तार और आकार विशाल होता है तो उसकी गति बहुधा तीव्र होती है। जो हिमानी अपने पोषक हिमक्षेत्र से विस्तार और आकार में छोटी होती है वही तीव्रता से बहती है। मार्ग का ढालू होना भी हिमानी के प्रवाह को बढ़ाता है। यदि हिमानी में हिमशिलाओं के आकार में ऊपर से नीचे की ओर ढाल होता है तो बर्फ़ शीघ्रता से फिसलती है। इसके साथ ही हिम के तापक्रम पर भी उसकी गति निर्भर है। यदि तापक्रम पिघलनेवाले बिन्दु के बहुत समीप होता है तो बर्फ़ तेज़ी से आगे बढ़ती है। यही कारण है कि शीतकाल की अपेक्षा ग्रीष्मकाल में कुछ हिमानियाँ तीन गुनी चाल से बहने लगती हैं।

जाड़े में शीतप्रधान देशों के वृक्ष और मैदान इसी तरह तुषारमंडित हो जाते हैं। ऊँचे पर्वतों पर इस तरह लगातार तुषार पड़ते रहने से हिम की पर्तें जम जाती हैं, जिनसे हिमशिलाएँ बन जाती हैं।

हम ऊपर बता चुके हैं कि हिमानी का वेग मध्य में अधिक तीव्र होता है और तली तथा किनारों पर कुछ मन्द होता है। इस बात की जाँच के लिए हिमानी के ऊपर एक सीधी लकीर में खूँटे गाड़े गए। थोड़े दिनों के पश्चात् देखा गया कि खूँटों की सीधी लकीर अर्द्ध-चन्द्राकार बन गई है। न केवल बीच का भाग आगे बढ़ गया है, वरन् बीच के खूँटे भी आगे झुक गए हैं। इससे ऊपर की बात का प्रमाण मिल गया। कहना न होगा कि हिमानी की गति और जलधारा की गति बीच में, किनारों पर और तली में समान रूप से अधिक और कम होती है। इसका कारण यही है कि किनारों और तली के पदार्थ जिस प्रकार जलधारा के प्रवाह में रुकावट डालते हैं, उसी प्रकार हिमानी के प्रवाह में भी बाधक होते हैं।

साधारणतः हिमानी के सम्बन्ध में यह सोचा जा सकता है कि हिमशिलाओं के कड़ेपन के कारण हिमानी का मार्ग बहुत ही सीधा होगा, क्योंकि कड़ी वस्तु को इधर-उधर मुड़ने में असुविधा होती है। परन्तु वास्तविक बात इसके बिल्कुल विपरीत है। हिमानी के मार्ग जलधाराओं के समान ही घुमावदार और बल खाते हुए होते हैं। यद्यपि देखने में हिम कड़ा और स्थूल होता है तथापि परिस्थितियों के अनुकूल दबने, मुड़ने और घूमने की उसकी विलक्षण प्रकृति प्रतीत होती है।

हिमानी का रुक जाना—कभी-कभी कोई-कोई हिमानी किसी स्थान पर एकदम स्थिर-सी हो जाती है और आगे बढ़ती ही नहीं। अलास्का के तट पर मालास्पिना नामक विशाल विस्तारवाली हिमानी आजकल बिल्कुल अशक्त-सी हो गई है। इसका अधिकांश भाग चट्टानों की चूरचार

से ढक गया है और उसमें वृक्ष और वनस्पतियाँ उत्पन्न हो गई हैं। इसी प्रकार की कई अन्य हिमानियाँ अलास्का, ग्रीनलैण्ड तथा अण्टार्कटिका प्रदेशों में और भी हैं, जो एक प्रकार से स्थिर-सी हो गई हैं और जिन पर वृक्षों, लताओं आदि ने अपना आधिपत्य जमा लिया है। धीरे-धीरे इनका हिम घुल-घुलकर जल बनकर बहता जाता है, परन्तु हिमानी अस्थिर होती प्रतीत नहीं होती। इसके कारण का अभी तक पता नहीं चला है, परन्तु यह विश्वास किया जाता है कि जलवायु में परिवर्त्तन हो जाने के कारण इन हिमानियों के हिमक्षेत्रों में तुषारपात कम हो गया है और इसीलिए हिमानी का पोषक क्षेत्र निर्बल हो जाने से उसकी गति शून्य हो गई है।

हिमानी कैसे समाप्त होती है!

हिम एक-न-एक दिन जल या जल-वाष्प में परिणत हो ही जाता है। हिमानी का नाश भी उसके हिम के जलरूप में हो जाने, या जल-वाष्प में परिणत हो जाने, अथवा खण्ड-खण्ड होकर हिमखण्डों (Icebergs) के रूप में बह जाने पर होता है। हिमानी का विखण्डन ऊँचे अक्षांशोंवाले प्रदेशों में उन नदियों में अधिक होता है, जो सागर में जाकर मिलती हैं। ध्रुव-प्रदेशों में हिमानी बहुधा हिमखण्डों को जन्म देती रहती है। ये हिमखण्ड पिघलने के पूर्व बहुत दूर तक बह जाते हैं और अन्त में पिघल जाने पर अदृश्य या नष्ट हो जाते हैं। हिमानी के हिम का वाष्पीकरण आरम्भ के हिमक्षेत्र से लेकर अन्तिम छोर तक बराबर होता रहता है। यहाँ तक कहा जाता है कि कुछ हिमानियों का अन्त वाष्पीकरण के कारण ही हुआ है। उनका हिम पिघलकर जल बनने के पूर्व ही वाष्प बनकर वायुमण्डल में व्याप्त हो गया। अण्टार्कटिक महाद्वीप के प्रदेशों में हिमानियाँ बहुधा खण्डजनन (Calving) और वाष्पीकरण (Evaporation) में ही नष्ट हो जाती हैं। परन्तु अन्य प्रदेशों की हिमानियों में पिघलने से हिम नष्ट होता है। हिम के पिघलने के कारण जलधाराओं और झीलों की रचना होती है। हिमजल के बहकर जलधाराओं और झीलों में पहुँचने से धरातल पर विचित्र प्रकार के चिह्न बन जाते हैं, जो कहीं भी सरलतापूर्वक पहचाने जा सकते हैं। जहाँ इस प्रकार के चिह्न नहीं मिलते, और सागर भी समीप नहीं होता, उस स्थान की हिमानी के नष्ट हो जाने का मुख्य कारण वाष्पीकरण ही माना जाता है।

हिमानी कितनी दूर तक पहुँचती है और उसका विस्तार कितना बढ़ता है, यह दो बातों पर निर्भर है। एक तो हिमक्षेत्र में पड़नेवाले तुषार पर और दूसरे हिमानी के विनष्ट होने पर। यदि हिमक्षेत्र में तुषार बहुत अधिक पड़ने लगता है और हिमानी का हिम कम मात्रा में नष्ट होता है तो वह बहुत दूर तक बढ़ी चली जायगी। परन्तु यदि तुषार की मात्रा की अपेक्षा नष्ट होनेवाले हिम की मात्रा अधिक है तो हिमानी दिन प्रतिदिन छोटी और पतली होती जायगी। इस दशा में हिमानी का छोर पीछे हटता है, परन्तु उसका हिम आगे बढ़ता जाता है। यदि हिमक्षेत्र में तुषारपात होना बन्द हो जाय तो हिमानी का आगे बढ़ना भी बन्द हो जाता है। इस प्रकार की 'गतिहीन' हिमानियों के बारे में हम ऊपर बता चुके हैं।

हिमानी पीछे हटती है—बहुत-सी हिमानियों की विशेषता यह रही है कि कुछ वर्षों तक उनका प्रवाह बढ़ता है और फिर कुछ वर्ष तक वे पीछे हटती हैं, और फिर आगे बढ़ती हैं। आल्प्स पर्वत तथा अलास्का प्रदेश में इस प्रकार की अनेकों हिमानियाँ हैं। इस बात के जानने के प्रयत्न किये जा रहे हैं कि हिमानियों का ऐसा व्यवहार जलवायु के परिवर्त्तन के कारण होता है अथवा और किसी कारण से। इस सम्बन्ध में खोज करनेवालों को कभी-कभी बड़ी मनोरञ्जक घटनाएँ देखने को मिलती हैं। उदाहरणार्थ हम आपको वाशिंगटन के रेनियर पर्वत के निस्कवैली ग्लेशियर की एक गति का हाल बताते हैं। १९१८ ई० तक यह ग्लेशियर धीरे-धीरे आगे बढ़ता पाया गया। परन्तु १९१८ से १९२९ के बीच अर्थात् ११ वर्ष में इसका मुख १९१८ के स्थान से ७४८ फ़ीट पीछे हट गया। अर्थात् प्रति वर्ष ६८ फ़ीट के लगभग यह ऊपर की ओर खिसकता रहा। इसकी आधुनिक लम्बाई ४-५ मील के लगभग है।

इसी प्रकार आल्प्स पर्वत की हिमानियों के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि १८५५ ई० तक वे सब बहुत आगे बढ़ आई थीं और इसके पश्चात् वे फिर पीछे हट गईं। पीछे हटते समय इनमें से ग्रिन्डैलवाल्ड नामक हिमानी के मार्ग में संगमर्मर की एक खान दिखाई पड़ी जो अब तक नदी के नीचे छिपी पड़ी थी। कहा जाता है कि इसी खान से निकाला हुआ पत्थर बर्न नगर के मकानों में सत्रहवीं शताब्दी में लगाया गया था। जब तक हिमानी के पीछे हटने से इस खान का पता नहीं चला था तब तक लोग अपने घरों में लगे पत्थरों के उत्पत्तिस्थान के विषय में सर्वथा अनभिज्ञ थे। इससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि जिन दिनों इस खान से पत्थर निकालकर उनसे बर्न नगर के मकान

उत्तरी अमेरिका में अभी हाल में खोजा गया एक महान् ग्लेशियर—'हब्बर्ड ग्लेशियर'

यह ग्लेशियर लगभग ६० मील लंबा और कई जगह १० मील चौड़ा है। इस चित्र में ग्लेशियर में जो छोटे-छोटे काले-काले दाग़ दिखाई देते हैं, वे प्रत्येक ४०-५० फ़ीट चौड़े हिम के खंड हैं। बहुत ऊँचाई से फ़ोटो लिया गया है, इसी से ये इतने छोटे दिखाई पड़ते हैं। इसी से आप इसकी लंबाई-चौड़ाई का अनुमाव कर सकते हैं।

हिमानी या ग्लेशियर का जन्म प्रायः ऐसे ही हिमाच्छादित गिरिशिखरों के ढाल पर होता है पर्वत की चोटी और उसके आसपास निरंतर जमा होते रहते हिम के दबाव से हिमशिलाएँ खिसकने लगतीं और धीरे-धीरे ग्लेशियर में परिणत हो जाती हैं। यह चीन की दक्षिणी सीमा पर स्थित मिन्या कोन्का पर्वतशिखर का दृश्य है। सामने कई हिमानियाँ नीचे उतरती दिखाई दे रही हैं।

आल्प्स पर्वतमाला के ग्रोस्ग्लोक्नर नामक ग्लेशियर में देखी गई एक दरार का फ़ोटो

प्रायः मुड़ते समय पड़नेवाले दबाव के कारण हिमानी की बर्फ़ीली चादर में दरारें पड़ जाया करती हैं। ये दरारें कभी-कभी बहुत लंबी-चौड़ी और गहरी खाईनुमा हो जाती हैं। चित्र में दिखाई दे रहे मनुष्य के आकार से इस दरार की तुलना कीजिए।
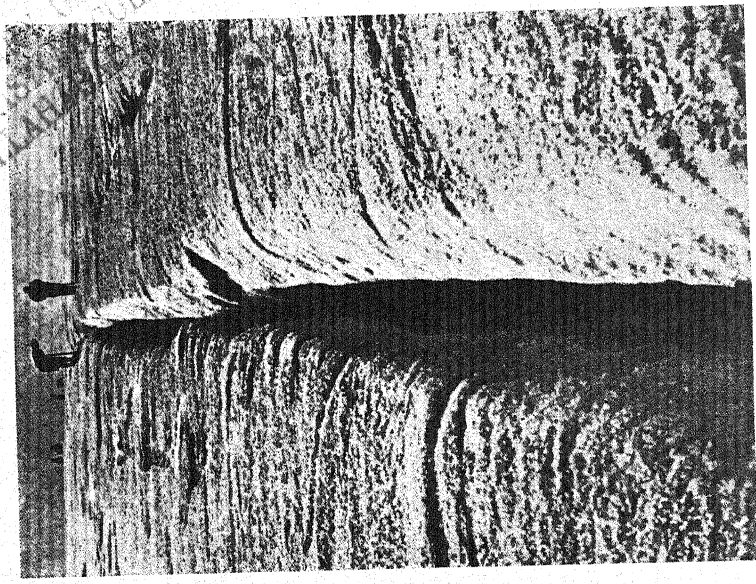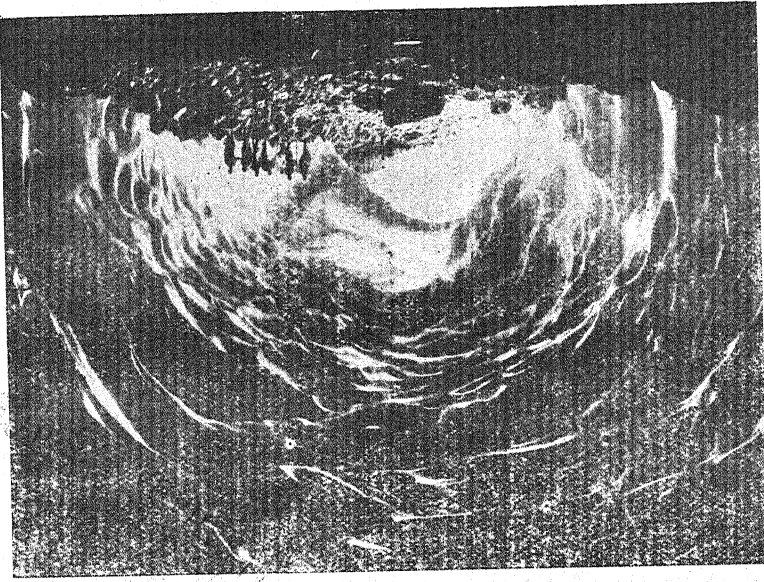
(ऊपर) अमेरिका के अलास्का प्रदेश के सुप्रसिद्ध टाकू ग्लेशियर का प्रभावशाली दृश्य। यह ग्लेशियर ३० मील लंबा और २-३ मील चौड़ा है। प्रतिदिन यह १० फ़ीट आगे खिसकता है और प्रशांत महासागर में आकर समाप्त हो जाता है, जैसा कि चित्र में प्रदर्शित है। यह फ़ोटो बहुत ऊँचाई से हवाई जहाज़ द्वारा लिया गया है। सामने पानी के निकट जो हिम की दीवार दिखाई पड़ रही है वह ३०० फ़ीट से भी अधिक ऊँची है! (दाहिनी ओर) ग्लेशियरों में नीचे कभी-कभी ऐसी गुफ़ाएँ भी बन जाती हैं!
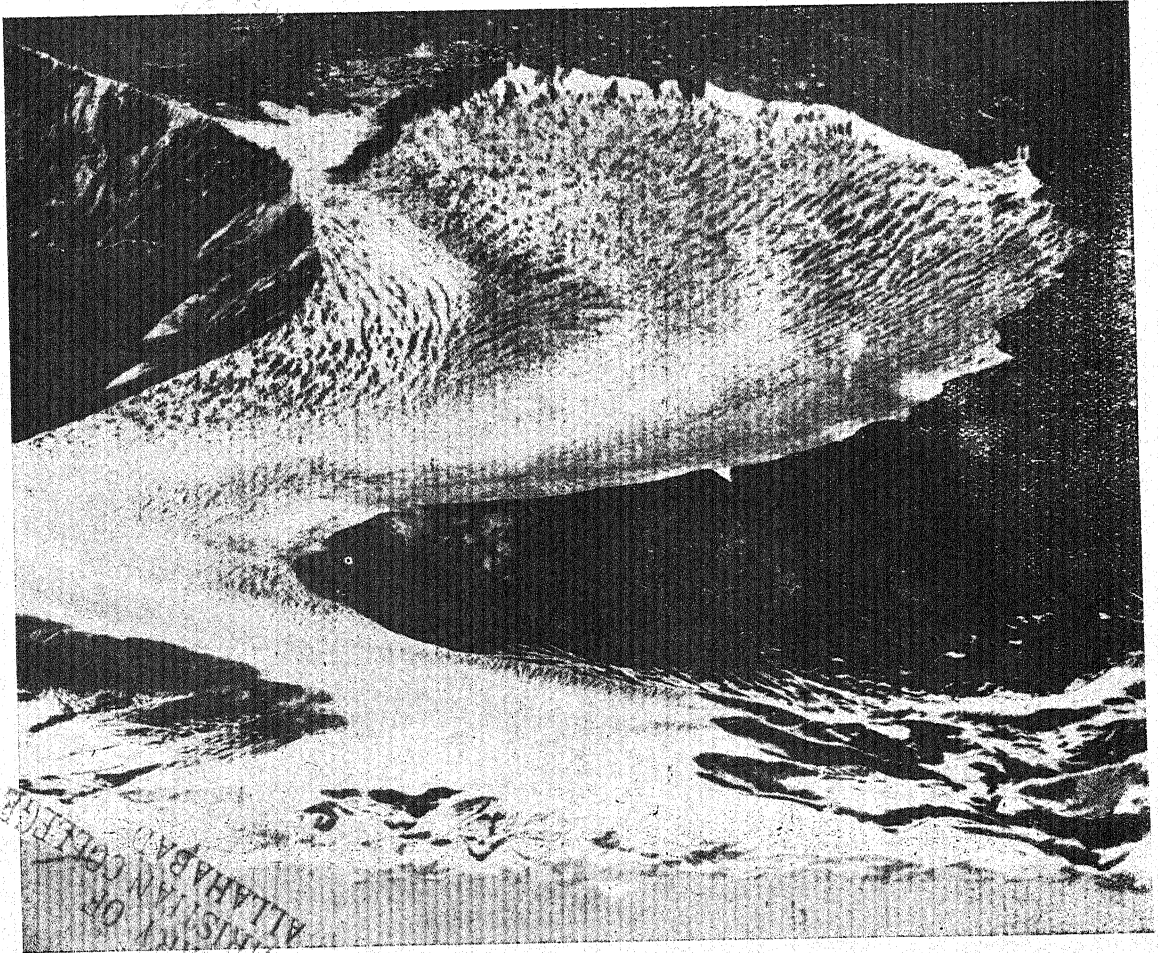
(ऊपर) अलास्का के कास्कावुलश नामक एक ग्लेशियर का दृश्य ; (नीचे) हिमालय में गंगोत्री के समीप केदारनाथ की हिमानी ।
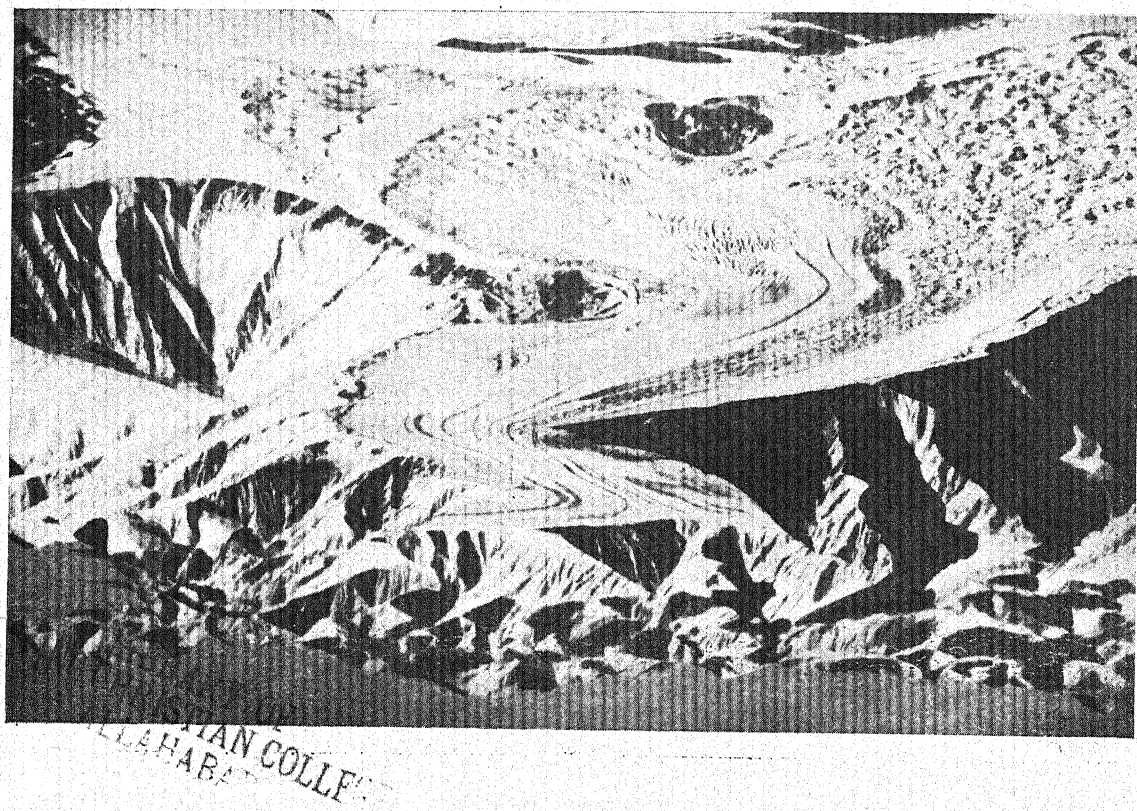
बनाये जाते थे उन दिनों हिमानी इस स्थान तक नहीं पहुँच पाई थी। १८५५ ई० में उसके प्रवाह ने इस खान के प्रदेश को भी ढाँप लिया। परन्तु उसके पीछे हटते ही खान फिर दिखाई पड़ने लगी।

सितम्बर १८९९ ई० में अलास्का की याकूतान की खाड़ी के प्रदेश में कई भूचाल आए। इस प्रदेश में अनेकों 'गतिहीन' हिमानियाँ पाई जाती हैं। इन भूचालों के परिणाम से इन हिमानियों में गति उत्पन्न हो गई और वे फिर प्रवाहित हो गईं। १९०६ ई० तक वे बड़ी तीव्रता से प्रवाहित होती रहीं, परन्तु इसके आगे वे फिर गतिहीन अवस्था को प्राप्त होने लगीं। भूचालों के कारण हिमक्षेत्रों से हिमशिलाएँ फिसल-फिसलकर हिमानियों में बहुतायत से आने लगीं और उसी से सम्भवतः ये हिमानियाँ बह चलीं।

संसार के ग्लेशियर

संसार भर में हज़ारों ग्लेशियर हैं। आल्प्स पर्वत में ही लगभग २००० ग्लेशियर हैं। इनमें से अधिकांश दो मील से कम लम्बे हैं। कुछ तीन से पाँच मील की लम्बाई तक में फैले हैं। एलेश ग्लेशियर लगभग १० मील लम्बा है और यह योरप में सबसे बड़ा है। योरप के अन्य ऊँचे पर्वतों पर भी इसी प्रकार की हिमानियाँ पाई जाती हैं। इन हिमानियों की यह विशेषता है कि वे घाटियों के भीतर बहती हैं। ये घाटियाँ हिमानियों के पूर्व की जलधाराओं की बनाई हुई होती हैं। पिरेनीज़, कारपैथियन और नारवे की ऊँची-ऊँची चोटियों पर इनकी अधिकता है। काकेशस, हिमालय, कराकोरम, पामीर तथा एशिया के अन्य पर्वत-शिखरों पर भी हिमानियाँ पाई जाती हैं। पामीर पठार में संसार भर में सबसे बड़ा फेडशैंको ग्लेशियर है, जिसकी लम्बाई ४४ मील से भी अधिक है।

हिमालय पर्वत भी हिमानियों के लिए प्रसिद्ध है। इनमें से कुछ संसार की प्रमुख हिमानियों में से हैं। इनका अनुसन्धान अभी तक अधिक नहीं हुआ है, परन्तु इधर कुछ वर्षों से भारतीय भूतत्त्व-विभाग तथा संसार के अन्य वैज्ञानिक इस ओर विशेष रूप से आकर्षित हुए हैं। हिमालय पर्वत की हिमानियाँ कोई छोटी और कोई बड़ी हैं। अधिकांश दो या तीन मील लम्बी हैं। परन्तु बीस-पचीस मील लम्बी 'हिस्पार' और 'चोगोलुंगमा' जैसी विशाल हिमानियों की भी कमी नहीं है। कराकोरम श्रेणियों की बलतोड़ो, बैफो आदि हिमानियाँ चालीस मील से भी अधिक लम्बी हैं।

एण्डीज़ पर्वत की ऊँची-ऊँची घाटियों में तथा न्यूज़ीलैण्ड की पहाड़ियों की घाटियों में भी अनेकों हिमानियाँ बहती हैं। अलास्का के तट पर सहस्रों हिमानियाँ घाटियों में से प्रवाहित होकर सागर-तट तक पहुँचने की चेष्टा करती हैं। ब्रिटिश कोलम्बिया, वाशिंगटन और ओरगान प्रदेशों में हिमानियों का अभाव होता जाता है। संयुक्त राष्ट्र में केवल कैस्केड रेंज नामक पर्वत-श्रेणियों की ऊँची चोटियों पर ही हिमानियाँ पाई जाती हैं।

हिमालय और आल्प्स पर्वतों में, घाटियों में बहनेवाली हिमानियों के अतिरिक्त, बहुत-से हिमक्षेत्र और भी हैं जो विशाल विस्तार में फैले हैं, परन्तु उनमें हिम की मात्रा इतनी नहीं है कि धारा के रूप में प्रवाहित हो जाय।

घाटियों में बहनेवाली हिमानी

अधिकांश ग्लेशियर घाटियों में बहते हैं। जैसे-जैसे घाटी घूमती जाती है, हिमानी भी घूमती जाती है। जैसे-जैसे घाटी का आकार बदलता है, हिमानी का भी आकार घाटी के अनुरूप होता जाता है। जहाँ घाटी चौड़ी होती है वहाँ हिमानी भी विस्तीर्ण हो जाती है। जहाँ घाटी सँकड़ी होती है वहाँ हिमानी भी सिकुड़ जाती है। केवल यही नहीं, यदि घाटी की तली ऊबड़-खाबड़ है तो हिमानी की तली भी उसी प्रकार की होगी। यदि घाटी की तलहटी चिकनी और समतल है तो हिमानी भी वैसी ही तलीवाली होगी।

संसारव्यापी हिमानियों के वर्णन में हम देख चुके हैं कि हिमानी की लम्बाई एक-आध मील से लेकर पचासों मील तक होती है। हिमानी की गहराई भी दस-बीस फ़ीट से लेकर हज़ारों फ़ीट तक होती है। अन्त के भाग में बहुधा गहराई कम और उत्पत्ति तथा मध्य स्थान में अधिक होती है। हिमानी का उत्पत्ति के स्थानवाला छोर सदैव ही हिमाच्छादित रहता है। परन्तु विसर्जन के निकटवाले छोर पर हिम जमा रहना स्वाभाविक नहीं है, यद्यपि अधिकांश ऋतुओं में और विशेषकर शरद्-ऋतु में यह छोर भी हिमाच्छादित रहता है। नीचे का छोर बहुधा चट्टानों की चूर तथा बालू-मिट्टी आदि से ही अधिकतर ढका हुआ पाया जाता है, यहाँ तक कि नीचे का हिम भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

अधिकांश हिमानी बीच में ऊँची और किनारों की ओर नीची होती हैं। हिमानी के विषय में एक विशेष बात ध्यान में रखने की यह है कि हिमक्षेत्र में (जहाँ से हिमानी का जन्म होता है) जिस वर्ष अधिक तुषारपात होगा उसी वर्ष हिमानी भी आगे बढ़ेगी, यह सत्य नहीं है। इसका

कारण यह है कि हिमक्षेत्र की बाढ़ के प्रभाव को हिमानी के अगले सिरे तक पहुँचते-पहुँचते वर्षों लग जाते हैं।

हिमानी घाटियों में बहती है और घाटियों के घूम-घुमैले रास्तों में भी उसको बहना पड़ता है। परन्तु हिम इतनी शीघ्रता से नई स्थिति को ग्रहण नहीं कर पाता। फलस्वरूप कहीं-कहीं हिमानी में दरारें पड़ जाती हैं, अर्थात् मुड़ने के कारण जो दबाव और खिंचाव पड़ता है उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हिमानी फट जाती है। ये दरारें कभी लम्बाकार, कभी आड़ी और कभी चौड़ाई को पार करती हैं। जिस प्रकार आधा पिघला हुआ मोम धीरे-धीरे अपने आप ढाल की ओर बढ़ता है, परन्तु खींचने से टूट जाता है, उसी प्रकार हिमानी भी खिंचाव पड़ते ही फट जाती है और उसके धरातल पर लम्बी, तिरछी या टेढ़ी दरारें दिखाई देने लगती हैं (दे० पृष्ठ १३२६ का चित्र)।

ये दरारें दबाव पड़ते ही अदृश्य हो जाती हैं। परन्तु धरातल पर तो दरारों के चिह्न बने ही रहते हैं। दरारों पर जब सूर्य की किरणें पड़ती हैं तब उनकी धार घुल-घुलकर गोल और चिकनी हो जाती है और ऐसा प्रतीत होता है कि दरार अधिक चौड़ी हो गई है।

जैसे-जैसे हिमानी घाटी में बहते हुए नीचे पहुँचती है उस पर आस-पास की चट्टानों के खण्ड इतने अधिक जमा हो जाते हैं कि कहीं-कहीं हिम का धरातल भी दिखाई नहीं देता। चट्टान-खण्ड हिमानी के दोनों किनारों पर अधिक गिरते हैं, क्योंकि ये भाग ही चट्टानों से रगड़ते चलते हैं। दोनों किनारे इस प्रकार असंख्य चट्टान-खण्डों की रेखा लिये आगे बढ़ते हैं। इनमें बड़े और छोटे सभी आकार के पत्थर होते हैं। इस प्रकार के ग्लैशियरस्थित रोड़े या कंकड़ के ढेर को 'मोरेन' (Moraine) कहते हैं।

जो 'मोरेन' ग्लैशियर के दोनों पार्श्व में पाये जाते हैं उन्हें 'पार्श्वस्थ' मोरेन (Lateral Moraine) कहते हैं। 'मध्यस्थ' मोरेन वे होते हैं, जो हिमानी के मध्य में कंकड़-पत्थरों की रेखा-सी बनाते हैं। जब दो ग्लैशियर मिलते हैं तब उनके भीतरी पार्श्व के मोरेन मिलकर एक हो जाते हैं, परन्तु बाहरी पार्श्व अलग-अलग रेखाएँ बनाये चलते हैं। इस प्रकार दो ग्लैशियरों के संगम से उत्पन्न ग्लैशियर में एक मध्यस्थ मोरेन बन जाता है। कभी-कभी पार्श्व की घाटियों से एक से अधिक ग्लैशियर आकर किसी एक ग्लैशियर में मिलते हैं। उस दशा में प्रत्येक नया ग्लैशियर एक मध्यस्थ मोरेन की सृष्टि करता जाता है। एक से अधिक मध्यस्थ मोरेन इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि मध्यस्थ मोरेन हिमानी के ठीक मध्य में ही हों।

अन्त में ग्लैशियरस्थित रोड़े, कंकड़ और पत्थरों का ढेर अर्थात् मोरेन ग्लैशियर के अन्तिम छोर पर पहुँचता है। यहाँ पर हिम गलकर पानी बन जाता है और जल इतना अधिक भार वहन करने में असमर्थ होने के कारण इस बोझे को धरती पर छोड़ देता है। प्रत्येक ग्लैशियर के अन्तिम छोर पर कंकड़-पत्थरों के इस प्रकार के ढेर पाये जाते हैं। इसे 'अन्तिम' मोरेन (Terminal Moraine) कहते हैं।

कंकड़-पत्थर के इन ढेरों के अतिरिक्त हिमानी की यात्रा में आसपास के पर्वतीय ढालों से चट्टानों के बड़े-बड़े ढोके लुढ़ककर हिमानी पर चढ़ बैठते हैं और सवारी करते हुए हिमानी के अन्तिम छोर तक पहुँच जाते हैं। अन्त में जल इनको धरती पर पटककर आगे बढ़ जाता है। बहुधा ऐसे 'ढोके' ऐसे स्थानों में पाये जाते हैं जहाँ अधिक दूर तक उस प्रकार की चट्टानों का कोई चिह्न नहीं होता। ऐसे स्थानों में इनको देखकर आश्चर्य होता है। यदि इन ढोकों के पास कोई हिमानी आकर समाप्त होती है तब तो इनकी स्थिति समझना कठिन नहीं है। कभी-कभी शताब्दियों पूर्व के ग्लैशियरों के लाये हुए ढोके ऐसे स्थानों में मिलते हैं, जहाँ अब हिमानी का पता भी नहीं चलता। उनको देखकर यही बोध होता है कि किसी समय हिमानी उस स्थान तक बहती थी और अब जलवायु अथवा अन्य भौगर्भिक क्रियाओं के फलस्वरूप वहाँ से अदृश्य हो गई है। हिमालय पर्वत के ग्लैशियरों की एक मुख्य विशेषता यह है कि उनका धरातल मोरेन, धूल, मिट्टी, बालू आदि पदार्थों से इस प्रकार तोपा रहता है कि कहीं-कहीं दूर तक बर्फ़ का पता नहीं चलता। काश्मीर के चरवाहे (गड़रिये) ग्रीष्म ऋतु में बहुधा ग्लैशियरों के ऊपर जमे हुए पत्थरों और चट्टानों की चूरचार के धरातल पर अपनी भेड़ों के झुण्ड सहित पड़े रहते हैं। कहीं-कहीं पर ग्लैशियर में मोरेन का परिमाण इतना अधिक हो जाता है कि बर्फ़ के स्थान पर पत्थर-ही-पत्थर दिखाई देते हैं। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि पत्थरों के ढेर में बर्फ़ मिला दी गई है।

ग्लैशियर पर दोनों पार्श्व के पर्वतों से जो चट्टानें खण्ड-खण्ड होकर गिरती हैं उनका प्रभाव विचित्र होता है। बड़े-बड़े कंकड़-पत्थर सूर्य की गर्मी से गरम हो जाते हैं, परन्तु उनके नीचे गरमी नहीं पहुँच पाती। फल यह होता है कि जहाँ

धरातल पर की बर्फ़ धूप के कारण पिघलती है वहाँ इन पत्थरों के नीचे दबा हुआ हिम पिघलने से बच जाता है। यहाँ तक कि इन पत्थरों के नीचे दबे हुए हिम-भाग को छोड़कर शेष भाग जल बन जाता है और 'हिम के खम्भे', जिनके ऊपर पत्थरों का छत्र रक्खा होता है, ऐसे दिखाई पड़ते हैं मानो प्रकृति ने ही उन्हें गढ़कर खड़े किये हों।

आल्प्स पर्वतमाला की सबसे बड़ी हिमानी—'ग्रेट एलेश ग्लेशियर'
बीच में मोरेन की रेखा दूर तक चली गई स्पष्ट दिखाई पड़ रही है।

ग्लैशियर की तली धीरे-धीरे घुलकर जल में परिणत होती जाती है। घुलने का कारण ग्लैशियर की तली में उत्पन्न होनेवाली गर्मी है। यह दो कारणों से उत्पन्न होती है। एक तो हिम और उसके ऊपर के पत्थरों के ढेर के बोझे के कारण और दूसरे घाटी की तली की रगड़ से। हिम के घुलने से जो पानी बनता है, वह कुछ तो हिमानी में ही बनी जलधाराओं में बहता हुआ उसके पार्श्व में बह जाता है अथवा नीचे पहुँचकर हिमानी के अन्तिम छोर पर जलधारा के रूप में प्रकट होता है।

हिमानी में अनेकों छोटी-बड़ी दरारें, गुफाएँ तथा नालियाँ भी बन जाती हैं। इनमें भी जल भर जाता है। कभी-कभी अधिक शीत होने से यह जल फिर हिम बनकर जम जाता है।

आल्प्स की एक और हिमानी या ग्लेशियर का रोमांचकारी दृश्य

पृथ्वी का नक़्शा महाद्वीप और महासागर

(सफेद भाग ही स्थल भाग है और काला जल भाग)
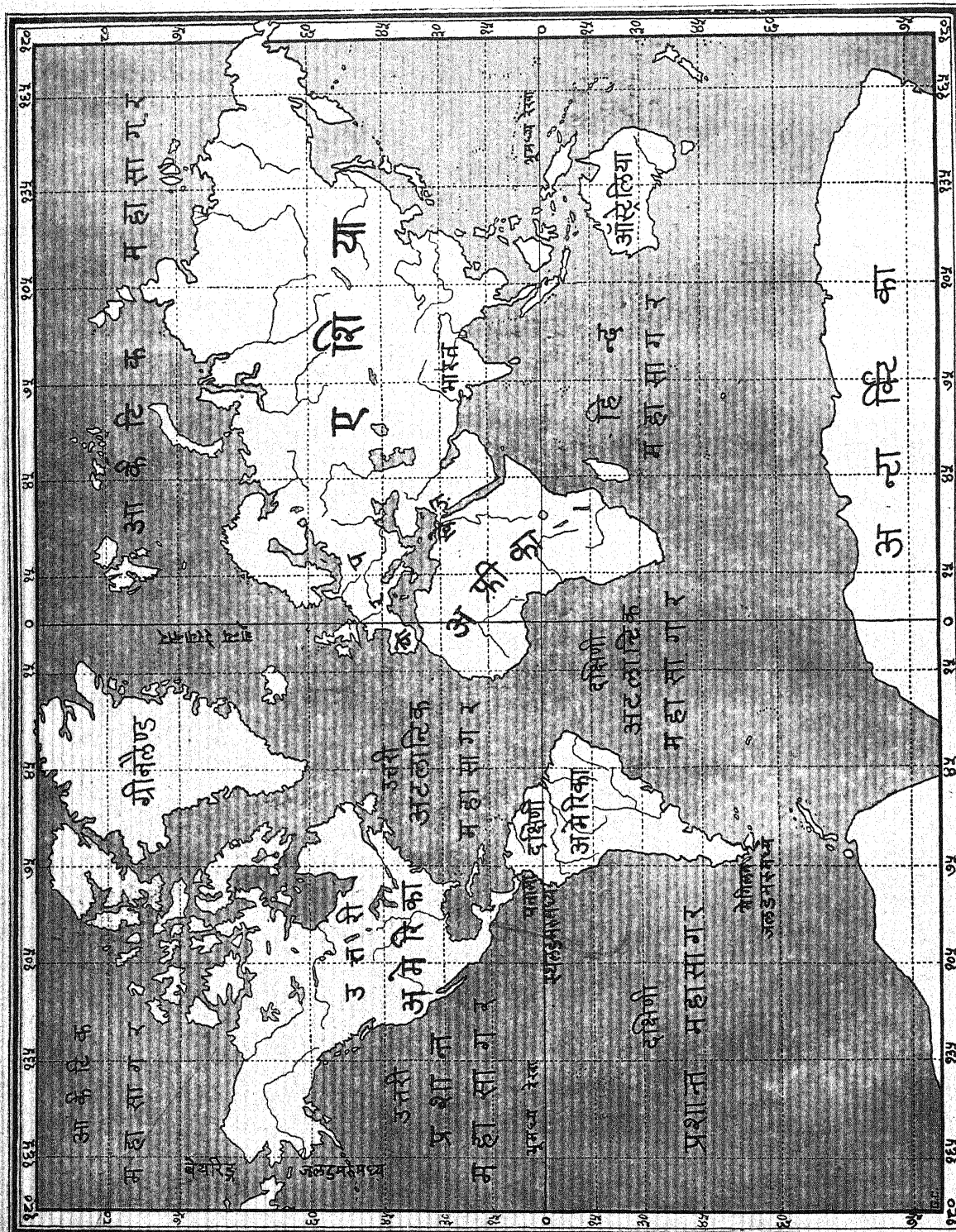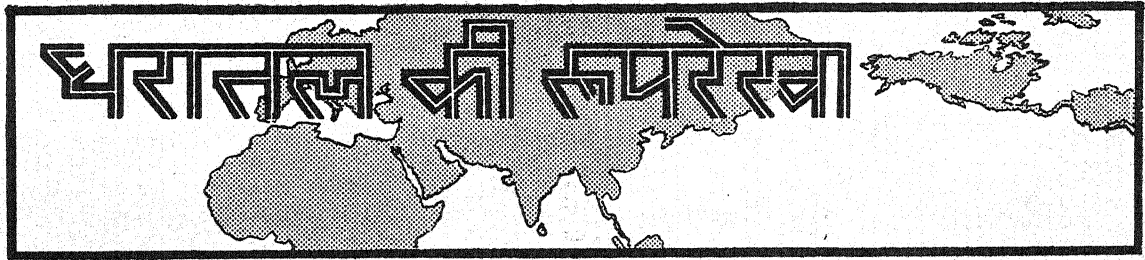
स्थलमण्डल—पुरानी और नई दुनिया

१—प्राकृतिक बनावट

मनुष्य जितना स्थलमण्डल के विषय में जानता है उतना ज्ञान उसको न जलमण्डल के विषय में है और न वायुमण्डल के विषय में। इसका कारण यह है कि स्थलमण्डल ही मनुष्य का निवासस्थान है। जितनी सरलता से वह स्थलमण्डल पर विचरता है उस प्रकार न वह जलमण्डल में तैर सकता है और न वायुमण्डल में उड़ सकता है। इसीलिए स्थलमण्डल की प्राकृतिक बनावट के विषय में मनुष्य ने बहुत अधिक ज्ञान प्राप्त कर लिया है।

समस्त पृथ्वी पर स्थलमण्डल का विस्तार लगभग ५५०००००० वर्ग मील के क्षेत्रफल में है। शेष भाग अर्थात् १४३०००००० वर्ग मील में जलमण्डल या महासागरों का विस्तार है। अर्थात् समस्त पृथ्वीमण्डल का केवल २९ प्रतिशत भाग जल के बाहर है और शेष ७१ प्रतिशत भाग जलमग्न है।

पृथ्वी के मानचित्र (नक़्शा) या ग्लोब के अध्ययन से मालूम होगा कि लगभग सभी जल और स्थलखण्ड विषम त्रिभुजाकार हैं। परन्तु इसमें एक विशेषता यह है कि स्थलखण्डों के त्रिभुजों के आधार उत्तर की ओर हैं और नुकीले भाग दक्षिण की ओर। इसके विपरीत जलखण्डों के त्रिभुजों के आधार दक्षिण की ओर हैं और नुकीले भाग उत्तर की ओर। यही नहीं, और भी एक विशेषता है, और वह यह है कि यदि हम पृथ्वी के केन्द्र से होती हुई कोई सीधी रेखा खींचें और यदि उसका एक सिरा जल को छुए तो दूसरा सिरा अवश्य स्थल को छुएगा और स्थल को छूनेवाली रेखा का दूसरा सिरा जल को छुएगा। अर्थात् पृथ्वी पर जल और स्थल एक दूसरे के ठीक विपरीत ओर स्थित हैं। ऐसे स्थान 'कुदलान्तर' (Antipodes) कहलाते हैं। इस प्रकार आस्ट्रेलिया का महाद्वीप उत्तरी अटलाण्टिक का कुदलान्तर है। अफ्रीका और योरप मध्य प्रशान्त महासागर के कुदलान्तर हैं। इसी प्रकार उत्तरी अमेरिका हिन्द महासागर का कुदलान्तर है। अन्टार्कटिका का स्थलसमूह आर्कटिक महासागर का कुदलान्तर है।

पृथ्वी के जल और स्थलखण्डों का विषम त्रिभुजाकार होना एक विशेष महत्त्व की बात है और वैज्ञानिकों ने इसका कारण खोज निकालने की चेष्टा की है। इसी खोज के परिणामस्वरूप उस सिद्धान्त की रचना की गई है जिसे 'चतुष्फलक का सिद्धान्त' (Tetrahedral Theory) कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण पृथ्वी का ढाँचा चतुष्फलक के समान माना गया है और इसी के कारण पृथ्वी का प्रत्येक जल और स्थलखण्ड विषम त्रिभुजाकार है।

चतुष्फलक उस ठोस आकृति को कहते हैं, जो चार समत्रिबाहु त्रिभुजों के संयोग से बनता है। यदि एक त्रिभुज को आधार मान लें और उसकी तीनों भुजाओं पर तीन अन्य त्रिभुजों को खड़ा किया जाय और उनको आपस में जोड़ दिया जाय तो जो आकृति बनेगी वह चतुष्फलक होगी। कहा जाता है कि हमारी पृथ्वी की आकृति भी ऐसी ही बनती जाती है।

इसका कारण यह है कि पृथ्वी का भीतरी भाग अभी तप्त है और धीरे-धीरे ठण्डा हो रहा है। जैसे-जैसे यह ठण्डा होता जाता है सिकुड़ता जाता है। परन्तु ऊपर का पृष्ठ तो ठोस और कड़ा हो गया है, इसलिए वह सिकुड़ नहीं सकता। फल यह होता है कि भीतर के भाग के सिकुड़ने से पृथ्वी का घनफल तो कम हो रहा है, परन्तु धरातल का क्षेत्रफल स्थिर ही बना हुआ है। इसलिए पृथ्वी को ऐसी आकृति धारण करनी पड़ रही है जिसका धरातल बड़ा होते हुए भी घनफल कम हो। गणितज्ञों के विचार में गोले की आकृति इसलिए सम्भव नहीं है कि धरातल के विस्तार के अनुसार गोले का घनफल बहुत अधिक होता है। परन्तु चतुष्फलक का घनफल धरातल के क्षेत्र-

फल के अनुसार बहुत कम होता है। अर्थात् यदि एक ही क्षेत्रफल के धरातल के भीतर गोला और चतुष्फलक दोनों रक्खे जायँ तो चतुष्फलक का घनफल गोले के घनफल से बहुत कम होगा। इसलिए विद्वानों का विचार है कि ज्यों-ज्यों पृथ्वी का घनफल (सिकुड़ने के कारण) कम होता जाता है (और धरातल का क्षेत्रफल स्थिर ही रहता है) त्यों-त्यों वह चतुष्फलक का रूप धारण करती जाती है। परन्तु अभी तक पृथ्वी पूर्णतया चतुष्फलक के रूप को धारण नहीं कर पाई है, बल्कि आजकल यह न गोलाकार है और न पूर्ण चतुष्फलक ही।

समस्त स्थलमण्डल अनेकों छोटे-बड़े भूखण्डों से मिलकर बना है। इन भूखण्डों को द्वीप और महाद्वीप के नाम से पुकारा जाता है, क्योंकि उनके चारों ओर जल है। पृथ्वी के विशाल स्थलखण्डों के विस्तार का हाल हम पहले बता चुके हैं (देखिए अंक १)। हम यह भी बता चुके हैं कि समस्त स्थलमण्डल को दो भागों में बाँटा जाता है—एक को 'पुरानी दुनिया' कहते हैं, जिसमें एशिया, योरप, अफ़्रीका तथा आस्ट्रेलिया सम्मिलित हैं; दूसरे भाग को 'नई दुनिया' कहते हैं जिसके अन्तर्गत उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के महाद्वीप आते हैं।

नई दुनिया के विषय में योरपवासी सन् १४९२ ई० तक पूर्णतया अनभिज्ञ थे। कोलम्बस ने उस वर्ष इन महाद्वीपों का पहले-पहल ज्ञान प्राप्त किया था। इसीलिए योरपवासियों ने इन स्थलखण्डों को 'नई दुनिया' का नाम दे दिया।

विशाल स्थलखण्ड और उनकी बनावट

पुरानी दुनिया कई विशाल स्थलखण्डों से मिलकर बनी है। योरप और एशिया से मिलकर जो महाद्वीप बनता है उसे 'यूरेशिया' कहते हैं। पृथ्वीमण्डल पर 'यूरेशिया' सबसे बड़ा स्थलखण्ड है। अकेला एशिया खण्ड भारतवर्ष से विस्तार में दस गुना है और योरप लगभग दुगुना। पृथ्वी के मानचित्र को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यूरेशिया ही मुख्य भूखण्ड है और शेष सब महाद्वीप इसके चारों ओर फैले हुए इसी के छिन्न-भिन्न खण्ड प्रतीत होते हैं।

भूमध्यसागर योरप को अफ़्रीका से जुदा करता है, परन्तु दोनों महाद्वीप इस सागर के पश्चिमी भाग में जिब्राल्टर प्रणाली के निकट एक दूसरे से मिलने की चेष्टा करते हैं। लालसागर का संकीर्ण जलखण्ड एशिया और अफ़्रीका को अलग करता है, परन्तु लालसागर के दक्षिणी भाग में 'बाबुल मण्डब' या 'आँसुओं के द्वार' के स्थान पर ये दोनों भूखण्ड भी एक दूसरे को छूने के लिए उत्सुक दिखाई पड़ते हैं। उत्तर की ओर स्वेज़ के पास तो दोनों एक दूसरे से बलपूर्वक अलग किये गये हैं। पिछली शताब्दी में जब स्वेज़ की नहर नहीं बनी थी तब ये दोनों महाद्वीप एक दूसरे से जुड़े हुए थे।

पुरानी दुनिया और नई दुनिया भी एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध बनाने के लिए एशिया के उत्तर-पूर्व के कोने में बेयरिंग जलडमरूमध्य के पास बहुत समीप आ जाते हैं और यदि बीच में यह हिम और तुषारमण्डित जलखण्ड न होता तो इस स्थान पर एशिया और उत्तरी अमेरिका एक दूसरे से मिल जाते। इस स्थान को छोड़कर एशिया और अमेरिका और कहीं समीप नहीं हैं। एशिया के पूर्वी तट से अमेरिका का पश्चिमी तट महाविशाल प्रशान्त महासागर के विस्तीर्ण जलमण्डल के कारण सहस्रों मील की दूरी पर है।

आस्ट्रेलिया का विशाल द्वीप एशिया के दक्षिण-पूर्व में, भूमध्यरेखा के दक्षिण में, एशिया महाद्वीप से छोटे-छोटे द्वीपों की शृंखला द्वारा बँधा हुआ-सा स्थित है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी दैवी शक्ति ने आस्ट्रेलिया से एशिया तक पहुँचने के लिए विशाल पुल की रचना की थी, जो छिन्न-भिन्न होकर छोटे-बड़े द्वीपों के रूप में अब भी एशिया और आस्ट्रेलिया को एक में मिलाने की चेष्टा करता है।

अमेरिका एशिया की अपेक्षा योरप और अफ़्रीका के अधिक निकट है। प्रशान्त महासागर पार करने की अपेक्षा अटलाण्टिक को पार करने में कम दूरी चलना होता है।

यदि पृथ्वी के स्थलमण्डल को पूरब से पश्चिम इकट्ठा करने की चेष्टा की जाय तो नई और पुरानी दुनिया एक दूसरे में इस प्रकार सट जायँगी कि समस्त स्थलमण्डल एक ही भूभाग दिखाई देगा। उत्तरी अमेरिका, ग्रीनलैण्ड और स्केन्डिनेविया सब मिलकर योरप और अमेरिका तथा एशिया को सम्मिलित कर देंगे और दक्षिणी अमेरिका अफ़्रीका के पश्चिमी तट से जुड़ जायगा।

स्थलमण्डल के खण्डों की बनावट देखने से पता चलता है कि इनके किनारे कहीं-कहीं तो सीधी रेखा के सदृश बने हैं और कहीं-कहीं बहुत अधिक वक्र और घुमावदार हैं। कहीं-कहीं तो उनमें जल का संकीर्ण भाग स्थल में घुस गया है और कहीं स्थल का संकीर्ण भाग दूर तक जल में चला गया है। कहीं स्थल दो विशाल जलखण्डों को अलग करता है तो कहीं जल की पतली प्रणाली दो स्थलखण्डों को अलग करती है। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि समस्त स्थलमण्डल समतल या सपाट नहीं है। प्रत्येक देश में कहीं पर ऊँचे-ऊँचे पर्वत

हैं, कहीं पर नीचे मैदान। कहीं पर समतल पठार हैं तो कहीं पर रेगिस्तान। कहीं ऊँची-नीची ढालू चट्टानें हैं तो कहीं पर गहरी घाटियाँ। स्थलमण्डल के मानचित्रों में स्थल की ऊँचाई-नीचाई दिखाने के लिए विविध रंगों की सहायता ली जाती है और ऐसे प्रत्येक चित्र के नीचे तालिका में ऊँचाई और रंगों का सम्बन्ध बताया जाता है। स्थलखण्डों की ऊँचाई और नीचाई का अध्ययन करने के पूर्व हम स्थल के प्रधान खण्डों की भूगोल पर स्थिति और उनकी सीमा (तट) की बनावट का अध्ययन करेंगे।

पहले यूरेशिया के विशाल भूखण्ड को लीजिए। यह दो प्रधान महाद्वीप एशिया और योरप से मिलकर बना है। दोनों ही महाद्वीप पृथ्वी के उत्तरी गोलार्द्ध में स्थित हैं, परन्तु एशिया का विस्तार उत्तर और दक्षिण दोनों ही दिशाओं में योरप से कहीं अधिक है। इसी कारण एशिया का सबसे उत्तरी भाग योरप के किसी भी प्रान्त की अपेक्षा अधिक शीतल है और उसी प्रकार दक्षिणी भाग योरप के किसी भी प्रान्त की अपेक्षा गरम है। एशिया का दक्षिणी भाग उष्ण कटिबन्ध में स्थित है परन्तु योरप का सारा प्रदेश उष्ण कटिबन्ध के बाहर उसके ऊपर स्थित है। एशिया का दक्षिणी भाग, अर्थात् बर्मा और भारतवर्ष, भूमध्य रेखा के जितने समीप है, योरप का कोई भी प्रान्त उतने निकट नहीं है।

योरप के स्थलखण्ड के अध्ययन से प्रतीत होगा कि योरप में एशिया की अपेक्षा जलखण्ड ने अधिक प्रवेश-स्थान प्राप्त कर लिये हैं। यहाँ तक कि योरप के बहुत कम स्थान ऐसे हैं जो सागर से बहुत दूर हों। उसका समुद्रतट बहुत लम्बा, घुमावदार और प्राकृतिक रूप से सुरक्षित बन्दरगाह बनानेवाला है। इसी कारण से योरप-निवासी आदि काल से ही अच्छे मछुए और समुद्रयात्री रहे हैं।

यूरेशिया के भूखण्ड को चार महासागर घेरे हुए हैं। इस भूखण्ड में अनेकों प्रायद्वीप हैं, परन्तु स्थलखण्ड के भीतर जलमण्डल की शाखाएँ केवल योरपीय खण्ड में अधिक हैं। अटलाण्टिक महासागर का ही एक खण्ड
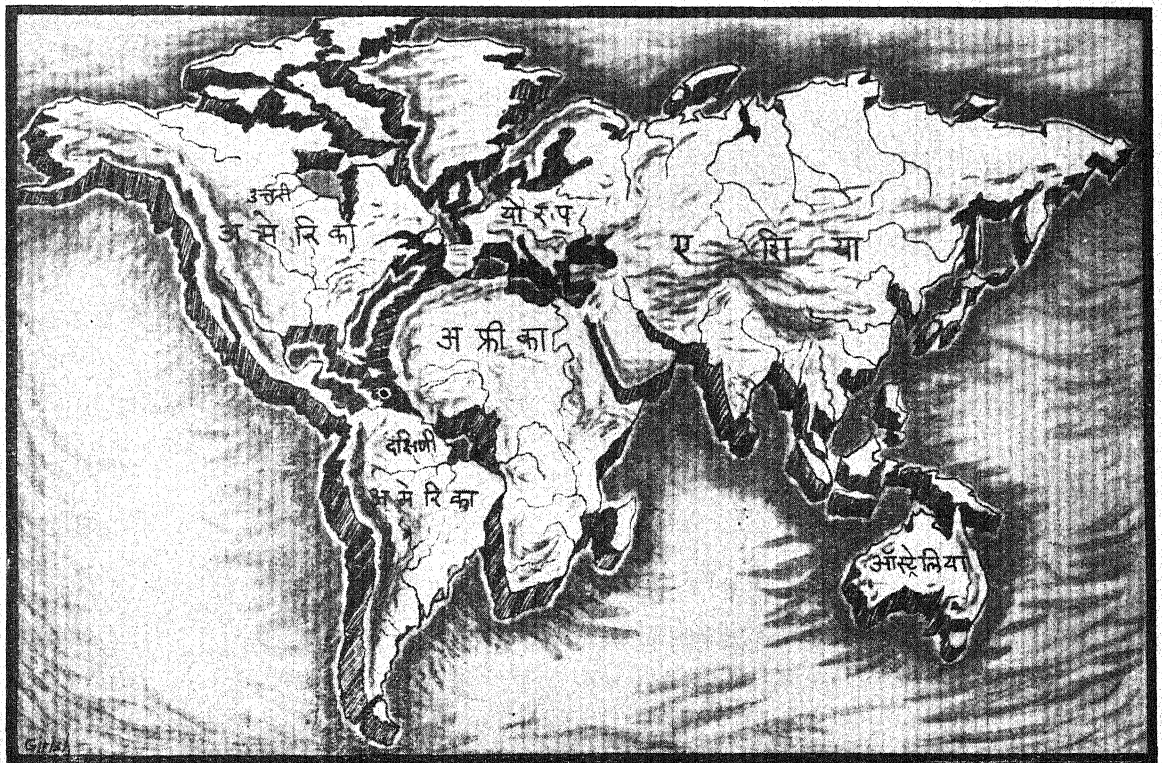
यदि नई और पुरानी दुनिया के भूभाग सटा दिये जायँ तो वे इसी प्रकार मिलकर एक भूभाग बना देंगे। अफ्रीका का उत्तर-पश्चिमी निकला हुआ कंधा उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के बीच के खाँचे में ठीक घुस जायगा और इसी तरह दक्षिणी अमेरिका का पूर्वी कोण अफ्रीका के पश्चिमी खाँचे में प्रवेश कर जायगा। इससे कई लोग सोचते हैं कि क्या आरंभ में यह एक ही भूभाग था जो बाद में विलग होकर दो टुकड़े हो गया!

बाल्टिक सागर के रूप में योरप के मध्यस्थलखण्ड में घुस गया है। इसी महासागर के एक भाग, उत्तरी सागर ने ब्रिटिश द्वीपसमूह को योरप के मुख्य स्थलखण्ड से एकदम अलग ही कर दिया है। योरप के दक्षिण में भूमध्य सागर के लम्बे जलखण्ड में स्थलखण्ड की तीन प्रमुख शाखाएँ घुस गई हैं और अनेकों द्वीपखण्ड बन गए हैं। ये तीन प्रमुख प्रायद्वीप (१) आइबेरियन (जो स्पेन और पुर्तगाल के संयोग से बनता है), (२) इटैलियन (जिसमें सिसिली का द्वीप भी सम्मिलित है), और (३) बालकन (जिसमें ग्रीस के छोटे-छोटे द्वीपखण्ड भी सम्मिलित हैं), के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस जलखण्ड को पूर्वीय भाग में दर्रे दानियाल या 'डार्डेनल्स' का जलडमरूमध्य मारमारा सागर से सम्मिलित करता है, और इस छोटे से सागर और काले सागर का सम्बन्ध बासफ़ोरस जलडमरूमध्य के द्वारा होता है। स्थलखण्ड से घिरा कैस्पियन सागर (एक विशाल झील) योरप और एशिया की सीमा निर्धारित करता प्रतीत होता है। इस प्रकार योरप की दक्षिणी सीमा (अटलान्टिक से कैस्पियन सागर तक) बराबर टेढ़ी-मेढ़ी और घुमावदार बनी है और लगभग सारी समुद्रतट पर स्थित है। उत्तर में आर्कटिक महासागर की एक भुजा श्वेतसागर के रूप में स्थलखण्ड में प्रवेश कर गई है।

योरप की अपेक्षा एशियाखण्ड बहुत अधिक विस्तीर्ण है। इसका भी बहुत-सा भाग प्रायद्वीपों के रूप में जलखण्डों में घुस गया है, परन्तु इसके विस्तीर्ण क्षेत्रफल की तुलना में उसका विस्तार बहुत ही कम है। एशिया की बनावट योरप की अपेक्षा अधिक ठोस और जलखण्डरहित है।

एशिया के दक्षिण में हिन्द महासागर का विशाल जलखण्ड फैला है जिसमें योरप के समान तीन प्रायद्वीप स्थित हैं। आइबेरियन प्रायद्वीप की समानता के लिए यहाँ पर अरब का प्रायद्वीप है, जिसको तीन सागर घेरे हैं। इन दोनों प्रायद्वीपों की बनावट एक-सी प्रतीत होती है, क्योंकि इनके तट अधिक टेढ़े-मेढ़े नहीं बने हैं। भारत का प्रायद्वीप इटली के प्रायद्वीप के समान है। इटली के सिसिली द्वीप की भाँति लंका का टापू इसी का अंश है और उत्तर में आल्प्स पर्वत की तरह यहाँ हिमालय का मुकुट है। पूर्वीय प्रायद्वीप इंडोचीन कहलाता है। बालकन प्रायद्वीप और इंडोचीन प्रायद्वीप की बनावट भी एक-सी ही प्रतीत होती है।

एशिया के पूर्वी तट की दो रेखायें बनी प्रतीत होती हैं। एक तो प्रधान भूखण्ड की तट-रेखा और दूसरी द्वीपशृंखला की रेखा, जो पहले तट के समानान्तर उत्तर से दक्षिणी तट तक फैली हुई है। इन दोनों तटों के बीच में कई सागर, खाड़ियाँ और जलडमरूमध्य हैं, जो सब पैसिफ़िक या प्रशान्त महासागर के ही अंश हैं। मलाया प्रायद्वीप की नुक्कड़ पर रोमानिया अन्तरीप (Cape Romania) का चक्कर लगाकर जब हम उत्तर की ओर मुड़ते हैं तब हमें सबसे पहले दक्षिणी चीन सागर मिलता है। स्याम की खाड़ी और टांगकिंग की खाड़ी इसी दक्षिणी चीन सागर के जलांश हैं। दक्षिणी चीन सागर पैसिफ़िक महासागर का ही अंश है, परन्तु बोर्नियो और फिलिपाईन द्वीपसमूहों ने इसको मुख्य जलांश से पृथक् कर दिया है। दक्षिणी चीन सागर से उत्तर की ओर जाने पर हमें फ़ारमूसा का जलडमरूमध्य मिलता है, जो फ़ारमूसा द्वीप को चीन के स्थलखण्ड से पृथक् करता है। इस जलडमरूमध्य को पार करने पर हम पीले सागर में घुस जाते हैं। पीला सागर स्थलखण्ड के भीतर घुसा प्रतीत होता है। कोरिया का प्रायद्वीप और जापान का सबसे दक्षिणी द्वीप इसको घेरे हुए हैं और मुख्य जलांश से मिलने में इसके लिए बाधक हैं। पीले सागर और योरप के उत्तरी सागर की स्थिति एक-सी प्रतीत होती है। पेचिली की खाड़ी पीले सागर का अन्तरतम भाग है। इस जलांश को दो छोटे प्रायद्वीप जबड़ों की भाँति पकड़े हुए हैं।

कोरिया जलडमरूमध्य के आगे हमें जापान सागर मिलता है, जो एक ओर मुख्य एशिया महाखंड और दूसरी ओर जापान द्वीपसमूह की दो दीवालों के बीच में बन्द प्रतीत होता है। इस सागर के उत्तर में तारतारी की खाड़ी और जलडमरूमध्य से होकर हम शीतल ओखटस्क सागर में पहुँच जाते हैं, जो बेयरिंग सागर के ठंडे जल से कमचटका के प्रायद्वीप द्वारा पृथक् हो गया है।

योरप और एशिया का उत्तरी तट आर्कटिक महासागर पर स्थित है और सबसे कम महत्त्व का है, क्योंकि यहाँ का जल सदैव हिममंडित रहता है। इस तट की बनावट भी अधिक घुमावदार या कटी-पिटी नहीं है, वरन् सरल रेखा के समान है। इस ओर के सागरतट के विषय में लोगों का ज्ञान भी बहुत कम है, क्योंकि यहाँ पर न कोई बन्दरगाह है और न कोई जलयान ही बर्फ़ से ढके जल में जाने की हिम्मत करता है।

आइए, यूरेशिया की बनावट के तट के अध्ययन के पश्चात् हम अफ़्रीका महाद्वीप की सीमा का अध्ययन करें। यह विशाल ठोस स्थलखण्ड भूमध्यरेखा के उत्तर और

दक्षिण दोनों ही ओर फैला हुआ है। उसका सबसे उत्तरी भाग लगभग उसी अक्षांश पर स्थित है जिस पर काश्मीर का एकदम उत्तरी भाग। उत्तरी भाग का अन्तिम छोर भूमध्यरेखा से जितने अंश उत्तरी अक्षांश में है दक्षिणी भाग का अन्तिम छोर उतने ही अंश दक्षिण अक्षांश में है। इसका मोटे विशाल कंधे के समान एक स्थल अंश पश्चिम में अटलांटिक महासागर में घुसा हुआ है और एक नोकीला अंश हिन्द महासागर में घुसकर दक्षिण में एक लम्बा-चौड़ा गोल प्रायद्वीप बनाता है।

भूमध्यसागर का जलखण्ड इस स्थलखण्ड को योरप से पृथक् करता है। इसका आकार भारतवर्ष के आकार से मिलता-जुलता है। लंका के टापू के सदृश इसके साथ भी मेडागास्कर द्वीप जुड़ा हुआ है। इसका तट योरप और एशिया के समुद्रतटों की अपेक्षा बहुत सीधा बना है। दक्षिण अमेरिका और आस्ट्रेलिया के समुद्रतटों जैसा इसका समुद्रतट है। पश्चिमी किनारे पर गिनी की चौड़ी खुली खाड़ी है। उत्तर में ट्रिपोली की खाड़ी और पूर्वी तट पर अदन की खाड़ी है। यह हिन्द महासागर का ही अंश है। तट से दूरी पर स्थित द्वीपों में मेडागास्कर ही प्रसिद्ध बड़ा द्वीप है, और सब द्वीप छोटे तथा नगण्य हैं।

योरप और एशिया की भाँति इसके तट पर न अधिक जलडमरूमध्य हैं और न अनेक प्रायद्वीप।

आस्ट्रेलिया महाद्वीप दक्षिणी गोलार्द्ध में स्थित है। आस्ट्रेलिया (Australia) शब्द का अर्थ दक्षिणी देश (Southern Land) है। इस देश का नाम योरपवालों ने आस्ट्रेलिया इसी कारण रक्खा है कि इसका विस्तार दक्षिणी गोलार्द्ध में है। विषुवत् रेखा के जिन उत्तरी अक्षांशों में भारतवर्ष फैला हुआ है लगभग उन्हीं अक्षांशों में दक्षिण में आस्ट्रेलिया स्थित है। फ्रीमैण्टिल नामक बन्दरगाह भारत के सबसे निकट है। यह कोलम्बो के दक्षिण-पूर्व में ३३०० मील दूर है। इस विशाल द्वीप की आकृति और तट-रेखा बहुत ही सरल है।

उत्तरी तट पर कारपेंटेरिया की खाड़ी है, जिसके पश्चिम और पूर्व दोनों ओर प्रायद्वीप हैं। पश्चिमी प्रायद्वीप बड़ा और चौड़ा है और पूर्वी छोटा और नुकीला। दक्षिण में समुद्र स्थल के भीतर घुसकर ग्रेट आस्ट्रेलियन बाईट (The Great Australian Bight) नामक चौड़ी खाड़ी बनाता है। इसी के दो अंश स्पेन्सर की खाड़ी और सेण्ट विंसेण्ट की खाड़ी के रूप में स्थल में दूर तक घुस गए हैं। दक्षिण में तस्मानिया का द्वीप है, जिसको बास (Bass) जलडमरूमध्य मुख्य स्थल से पृथक् करता है। यहाँ भी जल की एक शाखा स्थल में घुस गई है और पोर्ट फिलिप के पास अच्छी खाड़ी बनाती है, जिससे मेलबोर्न के प्रसिद्ध बन्दरगाह का महत्त्व है। आस्ट्रेलिया भी अफ्रीका की भाँति ठोस भूखण्ड प्रतीत होता है। इसका तट भी टूटा-फूटा नहीं है, जिसमें जल की शाखाएँ घुसकर जहाज़ों के लिए स्थल में दूर तक घुस आने का मार्ग बना सकें। समुद्रतटीय प्रदेश को छोड़कर शेष भाग समुद्र से दूर हैं।

आस्ट्रेलिया का पूर्वी तट अन्य भागों से थोड़ा अधिक टूटा-फूटा है। पूर्वी तट की एक और विशेषता है, जो संसार के किसी भी महाद्वीप के तट में नहीं पाई जाती। वह विशेषता यह है कि इस तट के निकट ही मूँगे की भीत (Coral Reef) बहुत दूर तक पाई जाती है। इस भीत की लम्बाई १२०० मील के लगभग है और यह उत्तरी-पूर्वी तट से २५-३० मील दूर है। कहीं-कहीं इस भीत के कुछ अंश इतने ऊँचे हो गए हैं कि जल के बाहर वे मूँगे के टापू के रूप में निकल आए हैं।

आस्ट्रेलिया संसार का सबसे छोटा महाद्वीप है। इसका क्षेत्रफल एशिया महाद्वीप के क्षेत्रफल का केवल छठवाँ भाग ही है। इस विशाल द्वीप के पूर्व में दो महत्त्वपूर्ण द्वीप और हैं, जो न्यूज़ीलैण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं। न्यूज़ीलैण्ड आस्ट्रेलिया द्वीप खण्ड से बिलकुल पृथक् है। इसके दोनों द्वीप उत्तर-दक्षिण में कुक जलडमरूमध्य के द्वारा अलग होते हैं। दोनों द्वीप मिलाकर भी इनका क्षेत्रफल आस्ट्रेलिया के क्वीन्सलैण्ड से भी कम है। इन द्वीपों का तट आस्ट्रेलिया के समुद्रतट से सर्वथा भिन्न है। इसमें स्थान-स्थान पर सागर की शाखाएँ स्थल में घुस आई हैं।

इटली को यदि उल्टा लटकाया जाय तो उसकी आकृति न्यूज़ीलैण्ड से बहुत-कुछ मिलती-जुलती होगी। उत्तरी द्वीप में प्लैंटी की खाड़ी तथा पूर्व में हाक की खाड़ी महत्त्व की हैं।

उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के दोनों महाद्वीपों का सम्मिलित नाम 'नई दुनिया' है। ग्लोब में भारतवर्ष के एकदम पीछे नई दुनिया का विस्तार है। भारत के मध्य में ८०° पूर्व अक्षांश की रेखा है और उत्तरी अमेरिका के मध्य में १००° पश्चिमी अक्षांश की। अर्थात् इन दोनों के बीच आधा भूगोल स्थित है।

नई दुनिया के दोनों महाद्वीपों की आकृति बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। दोनों के उत्तरी भाग चौड़े हैं और दक्षिणी भाग नुकीले हो गए हैं। उत्तरी अमेरिका का तट

अधिक टूटा-फूटा है और स्थल में अनेकों स्थान पर जल-शाखाएँ प्रवेश कर गई हैं। दक्षिणी अमेरिका के तट में सागर के बहुत कम अंश स्थल में पहुँच पाये हैं।

उत्तरी अमेरिका के उत्तरी तट पर हडसन की विशाल खाड़ी है, जो ठण्डे आर्कटिक महासागर से उत्तर में और अटलाण्टिक महासागर से दक्षिण में सम्बन्धित है। पूर्वीय तट पर सेण्ट लारेंस की खाड़ी है, जिसका कुछ अंश न्यूफ़ाउण्डलैण्ड तथा नोवास्कोशिया के टापुओं से बन्द हो गया है। लेब्राडर के विशाल प्रायद्वीप के कारण हडसन की खाड़ी और सेण्ट लारेंस की खाड़ी पृथक् हो गई हैं। दक्षिण में स्थल का एक अंश फ्लोरिडा प्रायद्वीप के रूप में अटलांटिक महासागर में दूर तक चला गया है और महासागर के जल को मेक्सिको की खाड़ी के रूप में प्रधान जलखण्ड से अलग करता है। मेक्सिको की खाड़ी को दक्षिण में यूकातान (Yucatan) प्रायद्वीप ने बन्द कर रक्खा है। इन दोनों प्रायद्वीपों के बीच में क्यूबा का मुख्य द्वीपखण्ड है। मेक्सिको की खाड़ी किसी भयानक पशु के मुख के समान प्रतीत होती है। फ्लोरिडा और यूकातान प्रायद्वीप दो जबड़ों की भाँति खुले हुए हैं और क्यूबा तथा उसके पूर्व की द्वीपशृंखला लम्बी जीभ के समान है जिसकी नोक दक्षिणी अमेरिका के तट को छूती प्रतीत होती है।

आर्कटिक महासागरवाला तट बहुत अधिक टूटा-फूटा है। हडसन की खाड़ी के उत्तर में असंख्य प्रायद्वीप, जलडमरूमध्य और द्वीपखण्ड हैं।

बैफ़िन की खाड़ी, बैफ़िन लैण्ड, हसडन का जलडमरूमध्य आदि ध्यान देने योग्य हैं। बैफ़िन की खाड़ी ग्रीनलैण्ड के विशाल टापू को अमेरिका के स्थलभाग से पृथक् करती है। ग्रीनलैण्ड का विशाल द्वीप एकदम शीत कटिबन्ध में है और अधिकांश हिमाच्छादित है। उत्तरी तट के अन्य छोटे-छोटे टापू भी अधिकतर हिमाच्छादित हैं और मनुष्य के उपयोग के नहीं हैं। इनमें से बहुत-से तो ऐसे हैं जिनके विषय में अभी तक मनुष्य सर्वथा अनभिज्ञ है।

पश्चिमी तट का उत्तरी भाग भी बहुत टूटा-फूटा है और द्वीपों की शृंखला के कारण जल की पतली लम्बी शाखाएँ दूर तक स्थल में चली गई प्रतीत होती हैं। द्वीपों की भीत के कारण मुख्य स्थलखण्ड और द्वीपखण्ड के बीच जलयानों के लिए बहुत सुरक्षित मार्ग है। वैंकोवर इन सब द्वीपों में प्रधान है। पश्चिमी तट के दक्षिणी भाग में कैलिफोर्निया का प्रायद्वीप लम्बे पतले स्थलखण्ड के रूप में कैलिफोर्निया की खाड़ी द्वारा प्रधान स्थलखण्ड से पृथक्-सा हो गया है।

उत्तरी अमेरिका की एक मुख्य विशेषता यह है कि इस स्थलखण्ड के भीतर अनेकों छोटे-छोटे जलखण्ड झीलों के रूप में फैले हैं। इनमें से अधिकतर सभी झीलों का जल मीठा है। इन झीलों में सबसे बड़ी झीलें सुपीरियर, मिचिगन, हूरन, ऐरी और ओन्टेरियो हैं, जिनमें संसार भर की झीलों का आधे से अधिक जल भरा है। सुपीरियर मीठे पानी की संसार भर में सबसे बड़ी झील है। इसी प्रकार की नौ अन्य झीलें हैं, जिनमें से प्रत्येक १०० मील से भी अधिक लम्बी है। ये झीलें महाद्वीप के उत्तरी भाग ही में पाई जाती हैं, दक्षिणी में नहीं।

उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के महाद्वीपों का सम्बन्ध मेक्सिको के नुकीले भाग के अन्त में पनामा के स्थलडमरूमध्य द्वारा होता है। पनामा और मेक्सिको के बीच की सँकड़ी स्थल की पट्टी मध्य अमेरिका कहलाती है। पनामा के स्थलडमरूमध्य को काटकर आजकल पनामा की नहर बनाई गई है। यह नहर पूर्व के कैरिब्रियन सागर के द्वारा अटलांटिक महासागर और पैसिफ़िक महासागर को सम्बन्धित करती है। कैरिबियन सागर दक्षिणी अमेरिका महाद्वीप द्वारा दक्षिण में, पश्चिमी द्वीपसमूह के द्वारा उत्तर में तथा मध्य अमेरिका द्वारा पश्चिम में घिरा हुआ है। पश्चिमी द्वीपसमूह धनुषाकार रूप में फैला है।

दक्षिणी अमेरिका का आकार समकोण त्रिभुज के समान है। इस त्रिभुज का आधार पैसिफ़िक महासागर है और उत्तरी और दक्षिणी अटलांटिक दो अन्य भुजाएँ। संकीर्ण पनामा स्थलडमरूमध्य द्वारा यह मध्य अमेरिका से जुड़ा है। इस महाद्वीप के तट में भी बहुत कम स्थानों पर सागर स्थल के भीतर दूर तक घुस पाया है। दक्षिण में पैसिफ़िक महासागर के तट पर अनेकों छोटे-छोटे द्वीप हैं, जो सम्भवतः स्थल के जलमग्न हो जाने के अवशेष चिह्न हैं। इन द्वीपों में सबसे बड़े का नाम टेरा डेल फ्यूगो है। इस द्वीप और प्रधान स्थलखण्ड के बीच में सँकड़ा लम्बा मैगिलन नामक जलडमरूमध्य है, जो बहुत ही टेढ़ा-मेढ़ा है और जिसको पार करना अब तक बड़े ही दुस्साहस का कार्य समझा जाता था। पुर्तगाल के मैगिलन नामक नाविक यात्री ने इसमें होकर सर्वप्रथम यात्रा की थी। इसीलिए उसके नाम पर इस जलडमरूमध्य का नाम रख दिया गया। आस्ट्रेलिया या अफ़्रीका महाद्वीपों की अपेक्षा दक्षिणी अमेरिका की स्थिति भूमध्यरेखा के अधिक दक्षिण में है और इसका पश्चिमी तट उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तट से भी अधिक पूर्व में है।
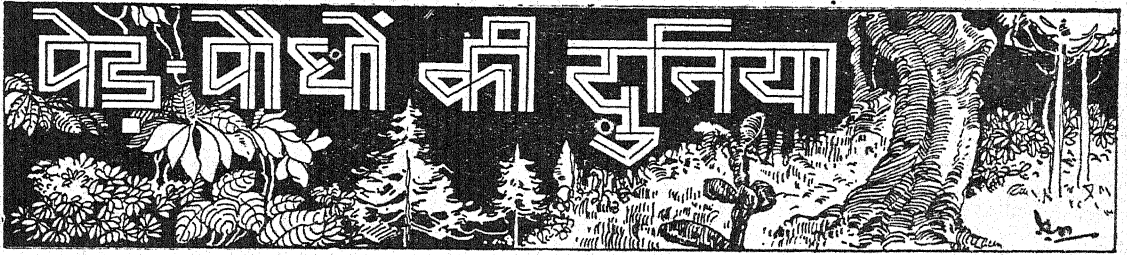
अन्नपूर्णा-भंडार पत्ती की कहानी—(२)

वाष्प-त्याग

पौधों में सारी क्रियाएँ नियमानुकूल और प्रबन्ध से होती हैं। इनका कोई अंग निरंतर जल पम्प करता रहता है (त्रि० १), कोई उसे ऊपर ले जाता है, कोई अनावश्यक वस्तुओं का त्याग करता है, कोई भोजन की रचना करता है, कोई उपार्जित वस्तुओं को इनके प्रत्येक अंग में पहुँचाता है, कोई कोठार का काम देता है और कोई सन्तान उत्पन्न कर उसे प्रयोजनीय साज-सामग्री सहित संसार के रणक्षेत्र में प्रस्तुत करता है। सारांश यह कि इनके अंग-अंग की लीला रहस्यमय और आश्चर्यजनक है।

अन्य जीवों की भाँति पौधों में भी आहार और जनन प्रधान कार्य्य हैं। आहार से प्रत्येक प्राणी सजीव रहता है और उसके अंग बढ़ते हैं। इसी से उसे काम-काज के लिए शक्ति मिलती है। जनन से जीवों का वंश चलता है। इस समय हम आपका ध्यान पौधों के आहार की ओर आकर्षित करना चाहते हैं।

पौधों में कौन-कौन तत्त्व होते हैं?

सबसे पहले यह प्रश्न उठता है कि पौधों की ख़ूराक क्या है? यह प्रश्न हमारा ध्यान जीवनमूल की ओर ले जाता है; क्योंकि, जैसा हम पहले ही देख चुके हैं, प्रत्येक पौधा कोशों का समूह है, जो जीवनमूल और उसके द्वारा उपार्जित वस्तुओं से बने हैं। इससे स्पष्ट है कि पौधों की ख़ूराक में अधिक भाग उन्हीं वस्तुओं का होगा जिनसे जीवनमूल बना है।

चित्र १—मूल दबाव

इस चित्र में पौधे को काटकर ठूँठ को मूल दबाव-मापक यंत्र (मैनोमीटर) से रबड़ की नली द्वारा जोड़ दिया गया है। मूल दबाव के कारण ठूँठ से रस-रसकर जल मैनोमीटर में आता है और दबाव पारे पर पड़ता है (चित्र—मि० शमसुद्दीन अहमद)।

विश्लेषण से पता लगता है कि जीवनमूल में कार्बन, ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, गंधक और फास्फोरस होते हैं। अतः प्रत्येक पौधे में इनका पहुँचना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त पौधों के तन्तुओं की जाँच से पता लगता है कि इनमें कुछ अंश लोहा, कैल्शियम, सिलिकन, जस्ता, बोरन और क्लोरीन का भी रहता है। इन सारी वस्तुओं में कार्बन प्रधान है। पौधों के अंग इसी वस्तु के अधिकांश संयोग से बने हैं।

कार्बन की पौधों को बहुत बड़ी मात्रा में आवश्यकता रहती है। इसे वे अपनी पत्तियों द्वारा वायुमंडल से कार्बोनिक ऐसिड गैस के रूप में ग्रहण करते हैं। यदि हम पौधों को ऐसी वायु में रक्खें जिसमें कार्बोनिक ऐसिड गैस न हो तो वे जीवित नहीं रह सकते। इस प्रकार वायु के उस अंश को जो हमारे लिए हानिकारक है पौधे ग्रहण करते हैं।

वायुमंडल के दस हज़ार भाग में लगभग तीन भाग कार्बोनिक ऐसिड गैस के रहते हैं। कितने आश्चर्य की बात है कि इतनी सूक्ष्म मात्रा में होने पर भी इसी गैस का कार्बन वनस्पति-जगत् का मुख्य आहार है! परन्तु पृथ्वी के चारों ओर का वायुमंडल इतना बृहत् है कि यद्यपि उसमें इतना कम कार्बन है फिर भी यदि संसार की सारी वनस्पतियों का कार्बन तौला जाय तो भी वह वायु के कार्बन से बहुत कम निकलेगा।

कार्बोनिक ऐसिड गैस में दो भाग ऑक्सीजन और एक भाग कार्बन होता है। इसलिए पत्तियों द्वारा पौधों में न केवल कार्बन बल्कि ऑक्सीजन भी पहुँचता है। फिर भी इनमें ऑक्सीजन का अधिकांश भाग जल से ही, जिसे पौधे मूलरोमों द्वारा शोषण करते हैं, आता है।

जैसा आप पहले ही देख चुके हैं, पौधे की जड़ें पृथ्वी के अन्दर, जहाँ उनके चारों ओर जल और नमकों के घोल होते हैं, पसरी रहती हैं। यहाँ से वे मूलरोमों द्वारा जल और आवश्यक घोलों का शोषण करती हैं (अं० ६ पृ० ६६८-६६६)। क्रमशः ये घोल निस्सरण द्वारा मूलरोमों से वल्क के कोशों में और फिर अन्त में काष्ठ में प्रवेश करते हैं। अब हमें यह विचार करना है कि यहाँ से जल और उसमें घुले नमक पत्तियों तक किस प्रकार पहुँचते हैं?

चित्र २—दाहिनी ओर बेलजार के अंदर एक गमले में लगा पौधा रक्खा है और बाईं ओर बेलजार के अंदर ख़ाली गमला रक्खा है। बेलजार इस प्रकार रक्खे हैं कि उनमें वायु इधर-उधर नहीं आ-जा सकती। वाष्प-त्याग द्वारा पौधे से निकला जल बेलजार की ठंढी सतह पर जमा हो जाता है, इसलिए दाहिनी ओर के बेलजार पर जल की बूँदें दिखाई दे रही हैं, परंतु बाईं ओर का बेलजार साफ़ है। (फ़ो०—मि० श० अहमद)।

वाष्प-त्याग

आपने अक्सर देखा होगा कि यदि पौधों को आवश्यकतानुसार जल न मिले तो वे मुर्झाने लगते हैं। इसका कारण यह है कि जो जल पौधों में जड़ों द्वारा आता है, उसके अधिकांश भाग का पत्तियों द्वारा वायु में त्याग होता रहता है। वैसे तो हमें इस क्रिया का पता नहीं चलता परन्तु विधिवत् जाँच करने से हम इसे भली भाँति देख सकते हैं।

एक छोटा गमला, जिसमें गुलमेंहदी, अजूबा या कोई दूसरा ऐसा ही बूटा लगा हो, लेकर भली भाँति मोमजामे से लपेट दीजिए, ताकि पौधे को छोड़ गमले का कोई भाग खुला न रहे। गमले को एक शीशे पर रखकर साफ़ बेलजार से ढक दीजिए। बेलजार और शीशे के बीच की दरार को भली भाँति वेसलीन या पिघले मोम से बंद कर दीजिए, ताकि उससे छनकर वायु न आ-जा सके। साथ में इसी प्रकार एक खाली गमले को दूसरे बेलजार से ढक कर रख दीजिए। आठ-दस घंटे बाद आप देखेंगे कि जिस गमले में पौधा लगा है उसके ऊपर ढके बेलजार में अन्दर की ओर पानी की बूँदें जमा हो गई हैं; परन्तु दूसरा बेलजार बिल्कुल साफ़ है (चि० २)। इससे यह परिणाम निकलता है कि बेलजार पर जमा

जल की बूँदें पौधे से ही आईं। मगर फिर बात क्या है कि साधारण अवस्था में पौधों से जल निकलता दिखाई नहीं देता ? यथार्थ में पौधों से जल बराबर निकलता रहता है; परन्तु वायु में तरी की कमी होने के कारण यह जल वाष्प रूप में ही रहता है। पौधे को बेलजार से ढक देने से उसके अन्दर का वायुमंडल धीरे-धीरे संपृक्त हो जाता है और इसलिए जब वह अधिक जल ग्रहण नहीं कर सकता तब पौधे से वाष्प-रूप में निकला जल बेलजार की ठंढी सतह पर जमा हो जाता है। जल-त्याग की सुविधा के लिए पौधों में करोड़ों रंध्र होते हैं। किसी-किसी पौधे में साधारण रंध्र के अतिरिक्त विशेष प्रकार के रंध्र या हाइडैथोड्स (Hydathodes) होते हैं, जिनसे जल-त्याग में सुगमता रहती है। यदि ऐसे पौधों को उपरोक्त
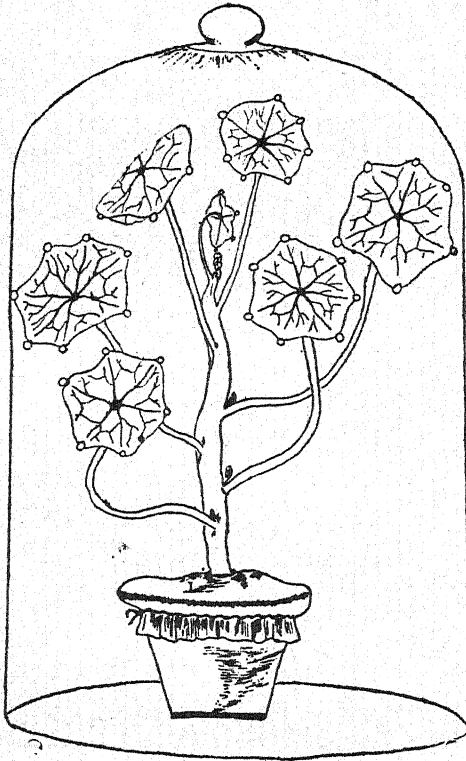
चि० ३—नगकेसर के पौधे को बेलजार से ढककर इस प्रकार रक्खा गया है कि वायु इधर-उधर नहीं आ सकती। पौधे की पत्तियों से वाष्प-त्याग द्वारा जल निकलता है और धीरे-धीरे बेलजार के अंदर का वायुमंडल संपृक्त हो जाता है। हाइडैथोड्स पर अब नन्हीं-नन्हीं बूँदें जमा हो गई हैं। यह जल पत्ती से ही निकलकर आया है (चि०—मि०श० अहमद)।
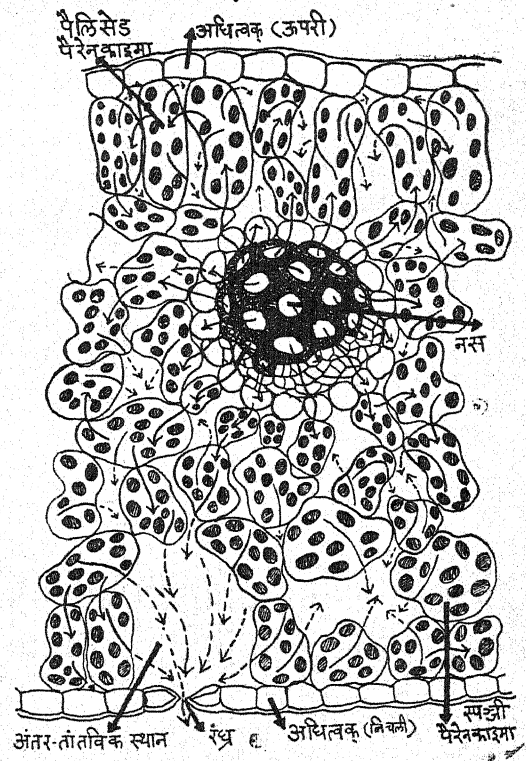
चि० ४—यह पत्ती के आड़े कत्तल का मानचित्र है। इस चित्र में जिस प्रकार नसों से जल अन्य तंतुओं में होता हुआ अन्तर-तान्तविक स्थानों में और फिर इनसे रंध्र द्वारा बाहर वायु में निस्सरित होता है, हल्के तीरों से दिखाया गया है।

विधि से बेलजार के अन्दर रक्खा जाय तो इन छिद्रों पर जल की नन्हीं-नन्हीं बूँदें दिखाई देंगी (चि० ३)।

वाष्प-त्याग द्वारा पौधों में होकर करोड़ों मन पानी वायु में जाता है। अनुमान से पता लगता है कि एक एकड़ गेहूँ के पौधों से प्रतिदिन लगभग ७४२० मन जल वायु में आता है। एक विशेष जाति की घास से इतने ही समय में लगभग उसके वज़न बराबर जल वाष्प-त्याग द्वारा निकलता है। हिसाब लगाकर देखा गया है कि ऐसी घास से प्रति एकड़ प्रति दिन प्रायः २६६८ मन जल वायु में आता है। इसी प्रकार एक सूर्य्यमुखी के पौधे से, जिसकी पत्तियों का पृष्ठतल प्रायः ३२ वर्ग फीट था, दिन भर में लगभग आध सेर जल निकलता पाया गया है। एक ज़ोरदार करमकल्लों के खेत से इस क्रिया द्वारा प्रति एकड़ सौ-सवा सौ मन पानी हवा में आता मिला है। इन उदाहरणों से आप अनुमान कर सकते हैं कि पेड़-पौधे

वाष्प-त्याग द्वारा न-जाने कितना जल वायु में त्यागते रहते हैं।

अब सवाल यह होता है कि पत्तियों से यह जल किस प्रकार बाहर आता है ?

जैसा अभी कह चुके हैं, जड़ों से संचित जल पत्तियों में पहुँचता है और यहाँ से वह बाहर निकलता है। जब कभी जल जितनी शीघ्रता से प्रवेश करता है उतनी शीघ्रता से बाहर नहीं हो पाता तब पत्ती के कोश फूले रहते हैं और पानी का कुछ अंश कोश-भित्तिकाओं से निस्सरित होकर उनसे बाहर अन्तर-तान्तविक स्थानों में पहुँचता है। परिणाम यह होता है कि यहाँ का वायु वाष्प से संपृक्त हो जाता है। जब कभी वायुमंडल की तरी अन्तर-तान्तविक स्थानों की तरी से कम होती है, जैसी अवस्था प्रायः सदैव ही बनी रहती है, तो यहाँ का जल वाष्प-रूप में रंध्रों से होकर बाहर निस्सरित होता है (चि० ४)। इस प्रकार पत्तियों से जल या तो बराबर वाष्प-रूप में निकलता रहता है या कभी-कभी, वायुमंडल के ताप और दबाव के अनुकूल होने से, पत्ती पर जमा हो जाता है। पाधों की पत्तियों से वाष्प-रूप में बाहर जल निकलने की क्रिया को वाष्प-त्याग (Transpiration) कहते हैं।

कभी-कभी रंध्रों से न होकर अधित्वक् से सीधे वाष्प-रूप में जल बाहर आता है। चूँकि यह जल चर्मोज से बाहर आता है इसलिए इसे चर्मोज-जनित वाष्प-त्याग कहते हैं।

वाष्प-त्याग पर बाहरी प्रभाव

यदि और सब बातें समान हों तो ज्यों-ज्यों ताप अधिक होगा वाष्प-त्याग बढ़ता जायगा; परन्तु यह अवस्था एक विशेष ताप तक ही होगी, क्योंकि बहुत अधिक ताप होने से पौधे की जीवन-क्रियाओं में बाधा पड़ने लगती है। ताप कम होने पर, वाष्प-त्याग धीमा पड़ जाता है। प्रकाश में साये से अधिक वाष्प-त्याग होता है और दिन में रात से अधिक। जब वायु प्रचंड चलती रहती है तब भी अधिक वाष्प-त्याग होता है।

जल-शोषण और जल-त्याग की तुलना

जितना जल शोषण-क्रिया से पौधों में आता है प्रायः उतना ही वाष्प-त्याग द्वारा पत्तियों से बाहर भी निकलता रहता है। इस कथन को हम प्रयोगों द्वारा प्रमाणित कर सकते हैं।

एक चौड़े मुँह की बोतल में पानी भरकर काग लगा दीजिए। काग में दो छेद करके उनमें से एक में उसके अनुकूल जामुन, टिकोमा या किसी अन्य साधारण पौधे की टहनी घुसेड़ दीजिए और दूसरे में एक ब्यूरेट (चि० ५)। ब्यूरेट और टहनी के निचले सिरे पानी में डूबे होने चाहिए। काग के छेद ऐसे होने चाहिए कि जिसमें टहनी और ब्यूरेट ढीले न रहें। फिर भी वाष्प-त्याग के प्रयोगों में इनके इर्द-गिर्द पिघला मोम या कोई अन्य वस्तु लगाकर छेद बंद कर देना चाहिए, ताकि वायु का मार्ग न रहे।
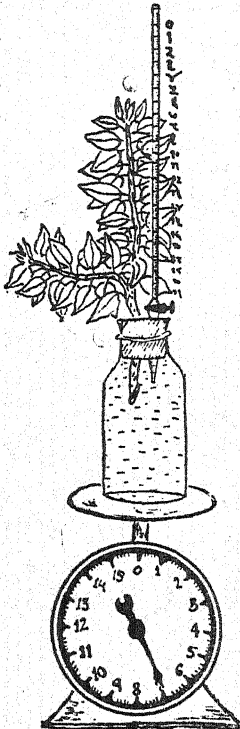
चि० ५—इस चित्र में पत्तियों द्वारा वाष्प-त्याग से जो जल वायु में जाता तथा जिस जल का टहनी में होकर शोषण होता है उन दोनों की तुलना की गई है। (चि०—मि० श० अहमद)

डाली को पौधे से काटते समय उसे नवाकर पानी के अन्दर काटना चाहिए ताकि शाख से अलग होने पर उसका कटा सिरा पानी में डूबा रहे। बोतल को तराज़ू पर रखकर, ब्यूरेट में जल भरकर, ऊपर से दो-चार बूँद तेल डालकर बोतल का वज़न और ब्यूरेट में जल की सतह नोट कर लीजिए (चि० ५)। पानी के ऊपर तेल डालने का मतलब यही है कि जिसमें ब्यूरेट से पानी भाप बनकर वायु में न जा सके।

कुछ समय बाद आप देखेंगे कि बोतल का वज़न कम पड़ गया है और साथ में ब्यूरेट में पानी की सतह भी नीची हो गई है। दोनों का मुक़ाबला करने पर पता लग जायगा कि जितनी कमी बोतल के वज़न में पड़ी है उतनी ही कमी प्रायः ब्यूरेट में जल की मात्रा में भी पड़ी है। इससे यह स्पष्ट है कि जितना जल पौधे की टहनी में शोषण से गया, लगभग उतना ही उससे वाष्प-त्याग द्वारा बाहर भी निकला। इससे हम इस परिणाम पर पहुँचे कि जितना जल जड़ों द्वारा पौधों में प्रवेश करता है प्रायः उतना ही उनकी पत्तियों से होकर बाहर भी निकल जाता है।

रंध्र और वाष्प-त्याग

पत्ती से जल-त्याग रंध्रों द्वारा होता है। यथार्थ में यह क्रिया रंध्रों के खुलने-मुँदने पर बहुत-कुछ निर्भर है। एक प्रकार से ये रंध्र मुख के समान हैं। रंध्रों का खुलना-मुँदना दो रक्षक कोशों के अधीन है। जिस प्रकार आप अपने

मुँह को ओठों द्वारा खोल और बंद कर सकते हैं, इन रंध्रों के छिद्र भी रक्षक कोशों से खुलते-मुँदते रहते हैं। रक्षक कोशों की बनावट अर्धचन्द्राकार होती है। इनके बीच में छिद्र या रंध्र होता है। जब पत्ती में पर्याप्त जल आता रहता है, ये कोश फूले रहते हैं, जिससे इनके बीच का छिद्र खुला रहता है, परन्तु जब जल कम पड़ने लगता है तो रक्षक कोश पिचकने लगते हैं और इसलिए रंध्र संकुचित हो जाते हैं (चि० ६)। इस प्रकार रंध्र का खुलना-मुँदना रक्षक कोशों के अधीन है और पौधों से वाष्प-त्याग रंध्रों पर बहुत कुछ निर्भर है।

रंध्र ही पत्ती से जल-त्याग का मार्ग हैं, इस बात को हम बड़ी सरलता से प्रमाणित कर सकते हैं।

यदि हम साधारण सफ़ेद काग़ज़ या फ़िल्टर-पेपर को कोबल्ट क्लोराइड या कोबल्ट नाइट्रेट के घोल में रँग लें तो जब तक काग़ज़ नम रहेगा रंग गुलाबी होगा, परन्तु यदि हम ऐसे रँगे काग़ज़ को सुखा लें तो वह नीले रंग का हो जायगा। नम होने पर रंग फिर गुलाबी हो जायगा। अब यदि हम आम, जामुन या किसी दूसरे साधारण पेड़ की पत्ती, जिसमें रंध्र निचली सतह पर बड़ी अधिकता से होते हैं, लेकर उसके दोनों ओर ऐसे घोल में रँगा सूखा काग़ज़ रखकर दो शीशे के टुकड़ों से दबाकर बाँध दें तो थोड़ी देर में हम देखेंगे कि पत्ती की निचली सतह से मिला काग़ज़ गुलाबी रंग का हो गया है, परन्तु ऊपरी सतह पर लगे काग़ज़ के रंग में बहुत कम अन्तर पड़ा है। इससे यह सिद्ध होता है कि जिधर रंध्र अधिक होते हैं, उधर से वाष्प-त्याग अधिक होता है। अतः रंध्र ही वाष्प-त्याग का प्रधान मार्ग हैं।

इस बात को हम दूसरे प्रकार से भी प्रमाणित कर सकते हैं। टिकोमा-सरीखे किसी साधारण महीन पत्तीवाले पौधे की दो पत्तियाँ लेकर उनमें से एक में ऊपर की ओर और दूसरी में नीचे की ओर भली भाँति वेसलीन चुपड़कर हवा में लटका दीजिए। थोड़ी देर बाद आप देखेंगे कि वह पत्ती, जिसमें निचली सतह खुली थी और ऊपर की ओर वेसलीन लगाई गई थी, दूसरी पत्ती की अपेक्षा, जिसमें कि निचली सतह पर वेसलीन लगाई गई थी और ऊपरी खुली थी, पहले मुर्झाने लगती है। पत्ती की जाँच करने पर पता लग जायगा कि इसमें ऊपरी सतह की अपेक्षा निचली पर रंध्र अधिक हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि पत्ती से जल-त्याग विशेष मात्रा में उसी ओर से होता है, जिधर रंध्र अधिक होते हैं, अर्थात् रंध्र ही वाष्प-त्याग का मुख्य मार्ग हैं।

वाष्प-त्याग साधारण वाष्पीभवन क्रिया से भिन्न है। जिस समय पौधों से अलग पड़ी पत्तियाँ वायु में सूखने लगती हैं, उनसे वाष्पीभवन द्वारा जल निकलने लगता है और क्रमशः उनका सारा-का-सारा जल इस क्रिया द्वारा निकलकर वायुमण्डल में चला जाता है और पत्तियाँ सूख जाती हैं। वाष्प-त्याग द्वारा सजीव पत्ती से सारे जल का नहीं त्याग होता। यह क्रिया पत्ती के अधीन रहती है। जिस समय अधिक वाष्प-त्याग होने लगता है, रंध्र स्वयं संकुचित हो जाते हैं और क्रिया आप ही धीमी पड़ जाती है।

पत्तियों के अतिरिक्त तने और टहनियों से भी वाष्प-त्याग से जल बाहर जाता रहता है। तनों में रंध्र के स्थान पर लेंटीसेल्स (Lenticels) होते हैं (चि० ७, ८)। विशेषकर यह क्रिया ऐसे तनों और टहनियों से ही होती है, जिनमें काग की उत्पत्ति न हुई हो।

वाष्प-त्याग के संयोग से पौधों को लाभ

कदाचित् आपका अनुमान होगा कि वाष्प-त्याग के कारण जो जल पौधों से वायुमंडल में चला जाता है, इससे पौधों को बड़ी हानि पहुँचती होगी। आपका यह अनुमान ठीक ही होता यदि जिस रफ़्तार से पत्तियों से

चि० ६

(बाईं ओर) रंध्र खुली दशा में। (दाहिनी ओर) रंध्र बंद दशा में। (चि०—मि० श० अहमद)
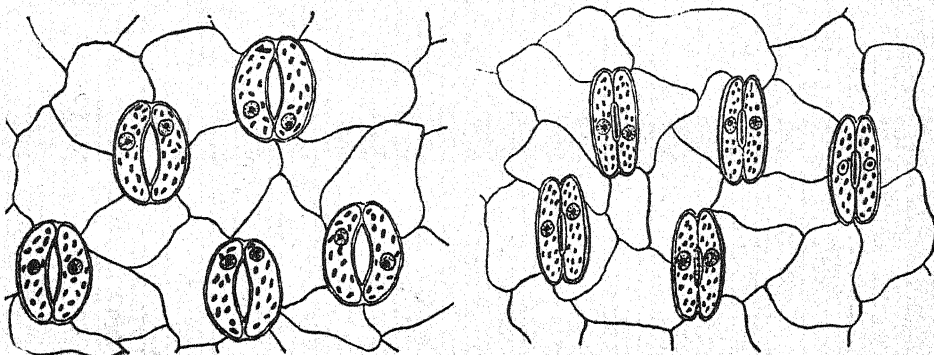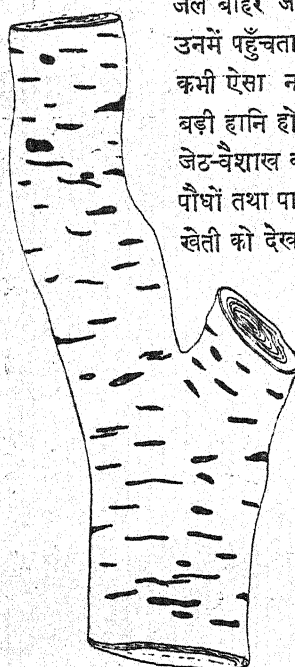
जल बाहर जाता है उसी रफ़्तार से वह उनमें पहुँचता न रहता। यथार्थ में जब कभी ऐसा नहीं हो पाता तब पौधों को बड़ी हानि होने की सम्भावना रहती है। जेठ-वैशाख की दुपहरी में मुर्झाते हुए पौधों तथा पानी न मिलने पर सूखती हुई खेती को देखकर हम इसका अनुमान कर सकते हैं। यथार्थ में वाष्प-त्याग के संयोग से पौधों को बड़ा लाभ होता है। यह उन क्रियाओं में है, जिनके सहारे जड़ से संचित जल और घोल पेड़ की पत्तियों में पहुँचते हैं।

चि० ७—भोजपत्र की शाख। काले निशान लेंटीसेलस हैं। (चि०—मि० श० अहमद)

पेड़-पौधों में जल का मार्ग

उपरोक्त विवरण से आपको पता लग गया होगा कि पौधों में जल एक ओर जड़ में होकर प्रवेश करता है और दूसरी ओर पत्तियों से होकर बाहर जाता है। निस्सन्देह ही यह जल तने में होकर पत्तियों में चढ़ता है। अब हमें यह विचार करना है कि क्या इस जल का कोई निश्चित मार्ग है अथवा यह जिधर पाता है उधर ही बेरोक प्रत्येक तन्तु में होकर बहता रहता है।

जैसा पूर्व ही देख चुके हैं, यदि हम किसी साधारण पौधे के तने की जाँच करें तो उसमें हमें मोटे-मोटे तीन भाग मिलेंगे—सबसे बाहर छाल, फिर नसें और अन्त में हीर। जड़ द्वारा संचित रस इन्हीं में से किसी में होकर ऊपर चढ़ता होगा।

हीर में होकर रस ऊपर नहीं जाता, इसके समझने में कदाचित् आपको कठिनाई नहीं होगी। कितने ही बूटों और पुराने वृक्षों के तने खोखले होते हैं अर्थात् इनमें हीर नहीं होता, फिर भी इनकी पत्तियों को बराबर रस मिलता रहता है और वे हरी-भरी बनी रहती हैं। इसलिए हीर जल का मार्ग नहीं हो सकता।

वल्क में होकर भी यह रस ऊपर नहीं जाते। इसकी परीक्षा हम किसी पौधे से काष्ठ के बाहर के तन्तुओं को छीलकर अलग कर देने पर कर सकते हैं। ऐसी अवस्था में हम देखेंगे कि पौधे की पत्तियाँ हरी-भरी बनी रहती हैं और यदि पौधे को पर्याप्त जल मिलता रहे, तो उसमें सारी क्रियाएँ पूर्ववत् चालू रहेंगी। अब हम इस नतीजे पर पहुँचे कि पौधों में जल का मार्ग हीर या वल्क में होकर नहीं है।

अब केवल नसों की जाँच करना शेष रह गया। जड़ों द्वारा संचित रस इन्हीं में होकर ऊपर जाते हैं। इस बात को हम प्रयोगों से प्रमाणित कर सकते हैं।

आम, जामुन, टिकोमा या किसी दूसरे ऐसे ही पौधे की टहनी, जैसा पहले ही वाष्प-त्याग के प्रयोगों के लिए बताया जा चुका है, पानी के अन्दर झुकाकर काट लीजिए। टहनी के कटे सिरे को एक शीशी में लाल स्याही, सैफ़्रैनिन (यह एक प्रकार का लाल रंग है) या इयोसिन के घोल में डुबोकर रख दीजिए। दस-बारह घंटे बाद आप देखेंगे कि पत्ती की नसें रंगीन हो गई हैं (चि० ९)। अब यदि ऐसी टहनी को घोल से निकालकर उसका निचला भाग, जो रंग में डूबा था, काटकर अलग कर दिया जाय और ऊपरी भाग से कत्तल काटकर जाँच की जाय, तो काष्ठ-नलिकाओं में रंग मिलेगा। यदि ऐसी टहनी को दो-तीन दिन तक रंगीन घोल में पड़ा रहने देने के बाद उसकी बीच से दो फाँक करके जाँच की जाय, तो काष्ठ का भाग ही रंगीन मिलेगा। इसी प्रकार यदि गुलफिरंग (*Vinca*), सुदर्शन, सफ़ेद फूलवाले गुलाब या किसी दूसरे महीन और सफ़ेद पंखुड़ीवाले फूल को डंठल समेत रंगीन घोल में रख दिया जाय, तो कुछ समय बाद पंखुड़ियों की नसें रंगीन हो जायँगी (चि० १०, ११)। इन प्रयोगों से यह प्रमाणित
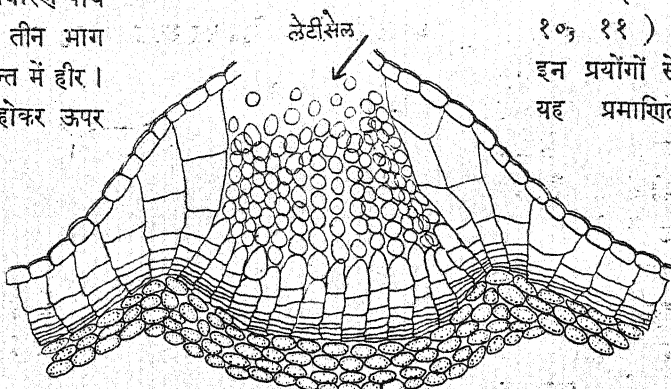
चि० ८—कत्तल काटकर खुर्दबीन से देखने पर लेन्टीसेल्स (चि०—मि० श० अहमद)

होता है कि पेड़-पौधों में जल नसों में ही होकर ऊपर चढ़ता है।

पेड़-पौधों में जल किन शक्तियों द्वारा ऊपर चढ़ता है?

हम ऊपर देख चुके हैं कि जड़ से संचित रस तने की नसों में होकर पत्तियों में आते हैं। अब हमें यह देखना है कि इन रसों को सैकड़ों फ़ीट की ऊँचाई पर चढ़ानेवाली कौन-सी शक्ति अथवा शक्तियाँ हैं? वनस्पति - भौतिक-शास्त्र की यह एक अत्यन्त जटिल समस्या है। अब तक हमें इसका कोई पर्याप्त उत्तर नहीं मिल सका। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि इस क्रिया में कई बातों का सम्बन्ध है। इनमें मूल दबाव (Root Pressure), वाष्प-त्याग (Transpiration), सूचिका-शक्ति, पत्तियों द्वारा जलोत्सर्ग (Secretion) और जल-कणों की संशक्ति (Cohesion) मुख्य हैं।

चि० ६—बाईं ओर की पत्ती उस टहनी से है जो लाल रंग में दस-बारह घंटे रक्खी रही है। दाहिनी ओर की पत्ती जिस टहनी से ली गई है, वह जल में रक्खी रही है। नसों में रंग चढ़ने के कारण बाईं ओर की पत्ती की नसें रंगीन हो गई हैं और इसीलिए फ़ोटो में विशेष स्पष्ट हो गई हैं।
(फ़ो०—मि० श० अहमद)

मूल दबाव

जैसा पूर्व ही वर्णन किया जा चुका है, मूलरोमों द्वारा शोषित जल जड़ के वल्क-कोशों में प्रवेश करता है। यहाँ से वह काष्ठ-नलिकाओं में पहुँचता है। इस प्रकार वल्क के करोड़ों कोश काष्ठ-नलिकाओं में जल को पम्प किया करते हैं। यह क्रिया निरंतर चौबीसों घंटे होती रहती है। परिणाम यह होता है कि यह जल बड़े दबाव के साथ बहता रहता है। वैसे तो हमें इसका पता नहीं चलता, परन्तु जिन दिनों पौधे बाढ़ पर होते हैं उस समय किसी ज़ोरदार पौधे के तने को काट देने पर ठूँठ के सिरे से प्रायः रस बहता दिखाई देता है। कभी-कभी वसंत के दिनों में झाड़ियों को छाँटने पर भी कटे सिरों पर रस चुहचुहाता देख पड़ता है। इसी प्रकार यदि किसी गमले में लगे ज़ोरदार और भली भाँति सींचे पौधे को, उसके चार-छः अंगुल निचले भाग को छोड़कर, काट दिया जाय तो निचले कटे सिरे से रस बहता दिखाई देगा। यह जल-त्याग निस्सरण के कारण है और इसका बहुत बड़ा दबाव पड़ता है। चूँकि यह दबाव जड़ों में प्रारम्भ होता है, इसलिए इसे मूल दबाव कहते हैं। इस क्रिया को हम निम्नलिखित प्रयोग से दर्शित कर सकते हैं।

अजूबा, गुलमेंहदी या किसी और ऐसे ही पौधे के तने को, चार-छः अंगुल निचले भाग को छोड़कर, काट दीजिए और ठूँठ को लगभग उतने ही व्यास-वाली एक शीशे की नली से, जिसमें कुछ पानी भरा हो, रबर की नली द्वारा जोड़ दीजिए। कुछ घंटे बाद आप
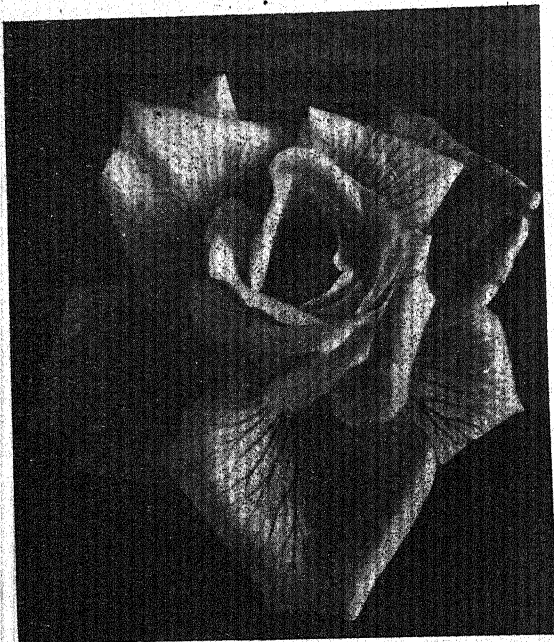
चि० १०—सफ़ेद रंग का गुलाब का फूल। इस फूल के डंठल को १५-२० मिनट लाल घोल में रक्खा गया है। पँखुड़ियों की नसों में रंग चढ़ जाने के कारण वे फ़ोटो में स्पष्ट हो गई हैं। (फ़ो०—मि० श० अहमद)

देखेंगे कि ठूँठ से रसकर जल शीशे की नली में आ गया है और इसलिए उसमें पानी की सतह ऊँची हो गई है। यदि शीशे की नली पर्याप्त ऊँचाई की हो और प्रयोग कई दिन तक चालू रहे तो सम्भव है जल कई फ़ीट ऊँचा चढ़ जाय। इस प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि गमले से पौधे की जड़ें ठूँठ में होकर शीशे की नली में बराबर जल पम्प करती रहती हैं। साधारण अवस्था में यही जल पौधे की नसों में होकर ऊपर चढ़ता रहता है। इस प्रयोग में पौधे के तने के स्थान पर शीशे की नली है। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि पौधे की जड़ों द्वारा इस भाँति कितना दबाव पड़ता है। यदि साधारण नली के स्थान पर हम मैनोमीटर (दबाव-मापक यंत्र) लगा दें तो हम मूल दबाव को नाप सकते हैं (चि० १)। प्रोफ़ेसर वाइन्स (Vines) ने बिच्छू बूटी (*Urtica*) में इस दबाव का नाप लगभग ३५४ मिलीमीटर बताया है। यह दबाव साधारण वायु के दबाव का लगभग आधा है और प्रायः १५ फ़ीट ऊँचे पानी के भार को रोक सकता है। अर्थात् यदि ऐसे पौधे के तने को काटकर इसके ऊपर उतने ही घेरेवाली नली लगाकर उसमें १५ फ़ीट की ऊँचाई तक पानी भर दिया जाय तो भी इस पानी के वज़न के बावजूद ठूँठ से जल निकलकर नली में आता रहेगा। किसी-किसी पौधे में मूल दबाव इससे भी अधिक होता है।

किसी समय में मूल दबाव वृक्षों में ऊपर जल चढ़ने में एक प्रधान शक्ति समझी जाती थी; परन्तु अब इसको इतना महत्त्व नहीं दिया जाता। प्रयोगों से पता चलता है कि जिन दिनों पौधों में रस अधिक तेज़ी से ऊपर चढ़ते रहते हैं, उन दिनों प्रायः मूल दबाव कम रहता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी पौधों में ऋणात्मक या विपरीत मूल दबाव (Negative Root Pressure) देखा गया है। इसलिए यदि पौधों में जल मूल दबाव के सहारे ही चढ़ता होता तो ऐसी अवस्था कदापि न होती। इन कारणों से पेड़-पौधों में जल के ऊपर चढ़ने में आजकल मूल दबाव की इतनी महत्ता नहीं मानी जाती। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि जिस समय मूल दबाव रहता है उस समय वह ऊपर जल चढ़ने में अवश्य सहायता करता है।

वाष्प-त्याग द्वारा भार उठाने की शक्ति

जैसा हम देख चुके हैं, वाष्प-त्याग की क्रिया से पत्तियों का
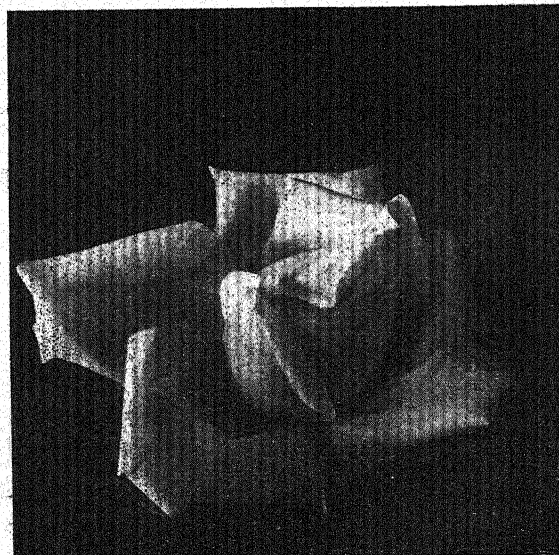
चि० ११—यह उसी गुलाब के पौधे का दूसरा फूल है, जिसके एक फूल का फ़ोटो चि० १० में दिया गया है। यह टहनी पानी के अंदर रक्खी रही है। दोनों चित्रों की तुलना से स्पष्ट हो जायगा कि जल का मार्ग नसें हैं। (फ़ो० — मि० श० अहमद)

जल बराबर निकलकर वायु में जाता रहता है। इस क्रिया के कारण नीचे से तने में आते हुए जल पर बड़ा खिंचाव पड़ता है। इस क्रिया को हम प्रयोग से दिखा सकते हैं।

कोई एक इंच व्यासवाली लगभग छः इंच लम्बी शीशे की नली लेकर उसके दोनों सिरों में कसे-कसे काग लगा दीजिए। दोनों काग में छेद करके उनमें से एक में शीशे की लगभग अठारह इंच लम्बी और चौथाई इंच व्यास वाली नली लगा दीजिए और दूसरी में एक ज़ोरदार पौधे की टहनी। टहनी को पानी के अन्दर उसी विधि से काटना चाहिए जैसा वाष्प-त्याग के प्रयोगों के लिए पहले बताया जा चुका है। शीशे की दोनों नली पानी से पूरी-पूरी भरी होनी चाहिएँ। अब पतली नली के निचले सिरे को एक पारे की प्याली में डुबाकर, जैसा चित्र १२ में दिखाया गया है, क्लैम्प द्वारा रोक देना चाहिए। ज्यों-ज्यों वाष्प-त्याग द्वारा जल बाहर जायगा नली में पारा ऊपर को चढ़ेगा (चि० १२)। यदि पौधे की टहनी हरी बनी रहे और शीशे की नली पर्याप्त लम्बी हो तो उसमें लगभग वायुमंडल के दबाव के बराबर पारा चढ़ सकता है। यथार्थ में नली में पारा वायुमंडल के दबाव के कारण ही चढ़ता है।

पत्तियों से वाष्प-त्याग के कारण नली में ऋणात्मक दबाव उत्पन्न हो जाता है और इसलिए पारे पर वायुमंडल के दबाव का प्रभाव पड़ता है। साधारण अवस्था में भी पौधों में वाष्प-त्याग के कारण यही दशा हो जाती है; परन्तु इस अवस्था में वायुमंडल के दबाव के स्थान पर उनका मूल दबाव काम करता है।

चि० १२

(मि० श० अहमद द्वारा)

पत्ती के कोशों से जलोत्सर्ग द्वारा जल का बाहर जाना

यद्यपि मूल दबाव और पौधों की पत्तियों से वाष्प-त्याग द्वारा भार उठाने की शक्ति उनमें ऊपर जल चढ़ने की समस्या को किसी सीमा तक हल अवश्य करते हैं, फिर भी केवल इन्हीं के सहारे सैकड़ों फीट ऊँचे वृक्षों और लताओं में जल ऊपर चढ़ाने के लिए पर्याप्त शक्ति नहीं प्राप्त होती। इसके अतिरिक्त जलमग्न पौधों में इनके सहारे काम नहीं चल सकता। अनुसंधान से पता चलता है कि ऐसी दशा में ऊपर जल चढ़ने में यथार्थ निस्सरण, जलोत्सर्ग और जल-कणों की संशक्ति ही प्रधान शक्तियाँ हैं।

सबसे पहले पत्ती के मिसोफिल (mesophyll) कोशों से उत्सर्ग द्वारा घोल का कुछ अंश अन्तर-तान्तविक स्थानों में आता है। इस घोल का समाहरण घोलक के भाप बन जाने से गाढ़ा हो जाता है और इसलिए वह मिसोफिल कोशों से फिर जल ग्रहण करता है। ये कोश निस्सरण के नियमानुसार अपने पड़ोस के अन्य कोशों से जल ग्रहण करते हैं। अन्त में पत्ती की नसों से निचुड़कर जल यहाँ पहुँचता है (चि० ४)। पत्ती की नसों में तने की नसों से जल आता है और इनमें जड़ की नसों से। इस प्रकार पत्ती से लेकर जड़ तक की नसों का जलखंड बराबर तनाव की दशा में रहता है। इस शक्ति के कारण जितनी शीघ्रता से वाष्प-त्याग द्वारा जल बाहर होता है, उतनी ही शीघ्रता से वह ऊपर भी चढ़ता है।

जलोत्सर्ग, निस्सरण, मूल दबाव, शूचिका शक्ति तथा जलकणों की संशक्ति के संगठित प्रभाव से हमें ऊँचे से ऊँचे वृक्षों और लताओं में ऊपर जल चढ़ने की क्रिया समझने में अड़चन नहीं पड़ती। डिक्सन ने प्रयोगों से सिद्ध कर दिया है कि यदि पौधे पानी में डुबो दिये जायँ तो भी उनमें जल चढ़ता रहता है।

टिकोमा, गुलमेंहदी या किसी और ऐसे ही पौधे की टहनी पूर्वोक्त विधि से पानी के अन्दर काटकर उसे एक शीशी में लाल स्याही या इयोसिन का घोल भरकर काग द्वारा लगा दीजिए। शीशी को तुरंत ही एक पात्र में पानी भरकर शाख समेत डुबो दीजिए (चि० १३)। इस अवस्था में टहनी में केवल निस्सरण और जलोत्सर्ग क्रियाएँ ही काम करती हैं। कुछ समय पश्चात् आप देखेंगे कि टहनी की पत्तियों की नसें सुर्ख पड़ गई हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि मूल दबाव और वाष्प-त्याग न भी काम करते हों, तब भी पौधों में जल ऊपर चढ़ता रहता है।

ऊँचे-ऊँचे वृक्षों और लताओं में तने की नलिकाओं का
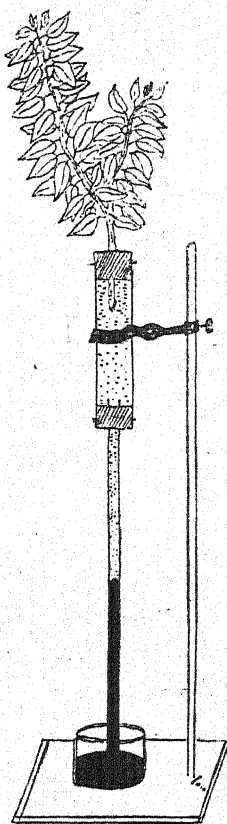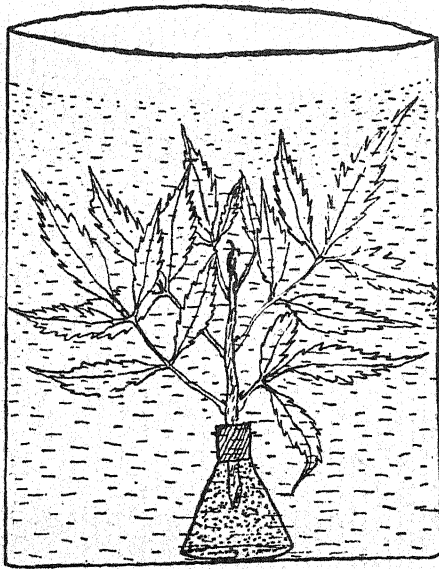
चि० १३—बोतल में लाल स्याही में काग द्वारा एक टिकोमा की शाख लगाकर पानी के पात्र में डुबोकर रख दी गई है। पानी में डूबे रहने पर भी टहनी में जल चढ़ता रहता है और पत्ती की नसें रंगीन हो जाती हैं। (चि०—मि० श० अहमद)

चि० १४—इस चित्र द्वारा मूल रोमों से जल किस प्रकार जड़ में होकर पत्तियों तक पहुँचता है यह तीरों द्वारा दिखाया गया है। नीचे को आनेवाली धारा नीचे की ओर को तीरों की नोक से दिखाई गई हैं। काली रेखाएँ काष्ठ को सूचित करती हैं। (चि०—मि० श० अहमद)

जल-खंड नीचे को धरती की आकर्षण-शक्ति से खिंचा रहता है और ऊपर की ओर को पत्ती की इंद्रिय-व्यापारिक (physiological) क्रियाओं से। फिर भी यह अविच्छिन्न बना रहता है और जल की धारा ऊपर को बराबर प्रवाहित रहती है, क्योंकि ऊपर का खिंचाव पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति से सदैव अधिक रहता है।

इस भाँति नीचे से मूल दबाव, पौधे की नलिकाओं की सूचिका-शक्ति और ऊपर से पत्तियों के वाष्प-त्याग का खिंचाव तथा उनके कोशों की जलोत्सर्ग-क्रिया और जल-कणों की संशक्ति मिलकर गुरुत्व के सभी नियमों के विपरीत तने में होकर जल को पेड़ों की चोटी तक हज़ारों फ़ीट की ऊँचाई पर पहुँचाते हैं (चि० १४)!

कदाचित आप यह जानना चाहते होंगे कि जड़ों द्वारा संचित रस पेड़ में किस रफ़्तार से चढ़ता है। यह बहाव कई बातों पर निर्भर है और भिन्न-भिन्न जाति के पेड़ों में इसमें बड़ा अन्तर रहता है। एक जाति के पेड़ों में भी प्रत्येक समय यह बहाव समान नहीं रहता। एक सफेद फूलवाली आयरिस (*Iris*) में देखा गया है कि यदि इसे नीले घोल से सींचा जाय तो इसकी पंखुड़ियों में सींचने के कोई १५-२० मिनट में रंग पहुँच जाता है। एक जाति की वेद (Willow) में प्रति घंटे लगभग १ गज़ की तेज़ी से जल चढ़ता मिला है। मकाई में इसका बहाव प्रायः १४ इंच फ़ी घंटे पाया गया है और सूरजमुखी में लगभग २५ इंच। इसी प्रकार तम्बाकू में प्रति घंटे ४ फ़ीट की रफ़्तार से जल चढ़ता मिला है। अमेरिका में भूमध्य रेखा के निकटवर्ती जंगलों में उगनेवाली एक अंगूर की भाँति की विशेष जातिवाली बेल की जाँच से पता चला है कि उसके तने में किसी निश्चित् स्थान से एक मिनट में लगभग डेढ़ पाव जल गुज़र जाता है। इस हिसाब से इस पौधे में दिनभर में इस स्थान से होकर मनों की तादाद में रस बहता रहता है। यह रस जड़ों से ही आता है और इसका संचालन बहुत-कुछ उन्हीं शक्तियों पर निर्भर है जिनका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं।

जीवन का आश्चर्यजनक चक्र

प्रकृति ने ऐसी अद्भुत व्यवस्था कर रक्खी है कि प्रत्येक जीवधारी—चाहे वह वनस्पति हो या प्राणी—अपने निर्वाह के लिए किसी अन्य वनस्पति या प्राणी पर निर्भर है। साथ ही एक अजीब बात यह है कि किसी भी जीवधारी द्वारा काम में लाया गया या पैदा किया हुआ कोई भी द्रव्य निरर्थक नहीं जाता। एक जिसे त्याग देता है, दूसरा उससे अपना निर्वाह करता है।

इस लेख के पढ़ने से आप समझ सकेंगे कि जीवित जगत् किस प्रकार चल रहा है और सारी जीवित वस्तुएँ एक-दूसरे के साथ पारस्परिकता का सम्बन्ध रखते हुए कैसे बँधी पड़ी हैं मानों वे एक ही ज़ंज़ीर की कड़ियाँ हों। कोई भी जीव या पौधा ऐसा नहीं है, जो किसी अन्य जीव या वनस्पति की सहायता बिना अपना जीवन बिता सके। इतना ही नहीं, प्रत्येक प्राणी कई व्यक्तियों पर निर्भर है। इस जीवन की ज़ंज़ीर की एक भी कड़ी दूसरी कड़ियों पर अपना असर डाले बिना ज़ंज़ीर से अलग नहीं हो सकती।

सभी प्राणी चलने-फिरने, खेलने-कूदने और काम करने में ही अपने जीवन का अधिकांश समय लगाते हैं। इन सबके लिए उन्हें शक्ति की आवश्यकता होती है और यह शक्ति उन्हें भोजन-सामग्री से ही प्राप्त होती है। जब हम अपनी किसी भी मांस-पेशी द्वारा कोई कार्य करते हैं तो कुछ शक्ति ख़र्च हो जाती है। यदि कोषों के ओषदीकरण द्वारा उस पेशी को यह शक्ति शीघ्र ही नहीं प्राप्त हो जाती तो वह थक जाती है, जैसा कि 'विश्व-भारती' के पिछले अंक में 'हम और हमारा शरीर' शीर्षक स्तम्भ में बतलाया जा चुका है। अतएव प्रत्येक प्राणी के लिए यह आवश्यक है कि वह भोजन द्वारा शरीर के कोषों की पूर्त्ति करता रहे और उनकी शक्ति तथा ताप स्थिर रक्खे। यदि हमारे भोजन में शरीर के लिए आवश्यक उन रासायनिक मिश्रणों का अभाव हो जाय तो शरीर अवश्य ही अपना स्वास्थ्य खो बैठेगा और घिसते-टूटते अवयवों की पूर्त्ति न होने से उसको शीघ्र ही मृत्यु के वश में होना पड़ेगा।

समुद्र के ऊपरी जल के निवासी सूक्ष्म जीव (प्राणी और वनस्पति) इनकी संख्या इतनी अधिक होती है कि अत्यंत छोटे होते हुए भी ये अन्य समुद्री जीवों के आहार का मुख्य अंश हैं। यदि ये न होते तो अन्य जीवों का समुद्र में जीवित रहना असम्भव होता।

जीवों का परस्पर निर्भर होना

प्रायः आप सभी अब तक जान चुके होंगे कि वनस्पतियों की तरह प्राणियों को भी प्रोटीन, कार्बोदेत आदि द्रव्यों की आवश्यकता होती है और समस्त संसार में केवल हरे पौधे ही एक ऐसी वस्तु हैं, जो इन नितान्त आवश्यक वस्तुओं को फिर से बना सकते हैं। शेर बकरी और भैंस को खाकर अपना निर्वाह कर सकता है, परन्तु बकरी और

भैंस तो घास, भूसा और चारा ही खाकर रहती हैं। अतः बकरी और भैंस का मांस वनस्पति के खाने ही से बनता है। यदि हम इनके मांस को घास का ही एक परिवर्त्तित रूप समझें तो अनुचित न होगा, क्योंकि उन्हीं रासायनिक पदार्थ—अमिनोकाम्ल, शक्कर, चर्बी और लवण—से, जो घास में होते हैं, बदलकर बकरी या भैंस के शरीर का जीवन-मूल अथवा मांस बन जाता है। इसलिए जब शेर उनका मांस खाता है तो यह कहा जा सकता है कि वह एक बार की इस्तेमाल की हुई घास-पात ही खा रहा है। मांस में जो भोजन-सामग्री है, वह निःसंदेह पेड़-पौधों में ही बनती है।

खाद्य पदार्थ एक से अधिक बार प्रयोग किये हुए भो हो सकते हैं। कीड़े (सूँड़े या भ्रूण) पत्तियों को खाकर मोटे हो जाते हैं और छोटी चिड़ियाँ इन्हीं से अपना पेट भरती हैं। इसी आहार से वे वह भोजन-सामग्री तैयार करती हैं, जो उनके अंडों में मिलती है। जब गिलहरियाँ अंडे या चिड़ियों के बच्चे खाती हैं तो वे अपने अमिनो-काम्ल को दो बार प्रयोग होने के बाद प्राप्त करती हैं। सुनहला उक़ाब मांस के अतिरिक्त कुछ नहीं खाता और, जहाँ तक सम्भव होता है, हाल के ही मरे जीव का मांस खाता है। यह मांस चाहे किसी ख़रगोश या खरहे का हो, जो केवल दूब या रसीली पत्तियों को ही खाता है; अथवा किसी चिड़िया का हो, जो संभवतः चुहियों, मेढकों तथा ममीरियों इत्यादि को खाकर रहती हो; हर हालत में वनस्पति ही से यह मांस बना, क्योंकि चुहियों ने अनाज और उसके डंठल को ही कुतरकर अपना उदर-निर्वाह किया तथा मेढकों और ममीरियों ने भी उन हज़ारों कीटाणुओं को खाकर जीवन-निर्वाह किया, जिन्होंने अपने बचपन में—जब वे सूँड़े या भ्रूण थे—पेड़ों के पत्ते ही खाकर अपना पेट भरा था। इसी तरह आप मनुष्य और अन्य जानवरों के आहार की ज़ंज़ीरें बना सकते हैं। ज़ंज़ीर में चाहे कितनी ही कड़ियाँ क्यों न हों, हम अन्त में सदा हरी वनस्पति पर ही पहुँचते हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि वनस्पति के बिना अन्य प्रकार के जीवों का होना असम्भव है।

समुद्री जानवरों के भोजनों की ज़ंज़ीर

शायद आप थोड़ा चकरा गए होंगे कि यदि यह बात ठीक है तो फिर समुद्र में क्या होता है। समुद्र में तो स्थल की तरह हरे वृक्ष निःसन्देह नहीं होते और जो कुछ समुद्री घास-पास हम देखते हैं वह भी किनारे पर ही रहनेवाले पौधे हैं। फिर समुद्री जीव वनस्पति पर किस प्रकार निर्भर हैं? समुद्री जीवों का जीवन वास्तव में खुले समुद्र की सतह पर दूर-दूर तक बहते हुए उन एककोषक या द्विपरिमाणुवाले (Diatoms) नन्हें-नन्हें वनस्पति-प्राणियों पर है, जो लाखों और करोड़ों की संख्या में तैरते रहते हैं और जिनका एक चित्र पिछले पृष्ठ पर दिया गया है। ये स्थलवाले पौधों की भाँति घुले हुए लवणों से अपना भोजन स्वयं बना लेते हैं और बढ़ते रहते हैं। इनकी ऐसी वृद्धि होती है कि समुद्र की सतह का पानी छोटे-छोटे वनस्पतियों से युक्त एक उत्तम शोरवा या रसा-सा हो जाता है, जिसको नन्हें-नन्हें जीव ग्रहण करते हैं। इसीलिए समुद्र के इस ऊपरी पानी को 'समुद्री चरागाह' कहा गया है। सतह पर रहनेवाले ये वनस्पति और सूक्ष्म प्राणी अपने से बड़े प्राणियों के भोजन के काम आते हैं, जिन्हें इनसे भी बड़े प्राणी या मछलियाँ खाकर अपना पेट पालती हैं। इस प्रकार समुद्री मछली छोटे झींगे की तरह के जीवों को खाती है, जो नन्हीं-नन्हीं वनस्पतियों पर पलते हैं, और मनुष्य इन्हीं मछलियों को पकड़ कर खा जाते हैं। पाव भर समुद्री मछली का मांस बनने के लिए उसे लगभग दस पाव घोंघे, झींगे इत्यादि को खाने की आवश्यकता होती है। घोंघे या झींगे का पाव भर मांस तब बने जब कि वह दस पाव अपने से छोटे अन्य समुद्री कीड़े खाय! इन छोटे कीड़ों का एक पाव वज़न अपने से उन दस गुने सूक्ष्म जीवाणुओं और वनस्पतियों को खाने से बनता है, जो समुद्र के ऊपरी जल में तैरा करते हैं। इसलिए जब कोई भूखा मनुष्य पाव भर मछली का मांस खा लेता है तो यह समझना चाहिए कि वह एक हज़ार पाव नन्हें-नन्हें समुद्री जीवों को बदले हुए रूप में खा रहा है। जो जीव गहरे समुद्र में रहते हैं, वे ऊपरी जल से मरकर नीचे गिरे हुए नन्हें-नन्हें पौधों और जीव-जन्तुओं पर ही निर्भर हैं। पेड़-पौधों को अपना खाना बनाने के लिए प्रकाश की आवश्यकता होती है, इससे यह स्पष्ट होता है कि ये नन्हीं वनस्पतियाँ पानी की ऊपरी सतह पर ही रह और बढ़ सकती हैं, क्योंकि पानी के भीतर रोशनी दूर तक नहीं पहुँच सकती।

जीवधारियों को काम करने की शक्ति कैसे प्राप्त होती है?

प्रत्येक जानदार वस्तु को भोजन से ही काम करने की शक्ति प्राप्त होती है। बहुत-सी क्रियाएँ ऐसी हैं जो हमको सहज में दिखलाई पड़ती हैं। एक-दो सेर वज़नवाली बिल्ली गज़ भर की ऊँचाई से कूदकर नीचे गिरती है तो वह १२ फ़ीट ऊँचे तक पौंड भर वज़न उठाने जितना काम करती है। बिल्ली का शरीर द्रव्यों से बना हुआ है। उसी प्रकार जगत् की सभी वस्तुओं में भी द्रव्य ही है। मनुष्य का शरीर भी द्रव्य

का ही रचा हुआ है। पत्थर भी द्रव्य ही से बना है। जब कोई लड़का पत्थर फेंकता है तो यह समझना चाहिए कि वह द्रव्य ही को एक जगह से दूसरी जगह हटा रहा है; किन्तु ऐसा करने में उसको बल-प्रयोग करना पड़ता है। हम भी जब कोई शारीरिक काम करते हैं तो साधारण शब्दों में यह कहा जा सकता है कि हमारे सारे शारीरिक कार्य पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान को हटाना ही हैं। चलते हैं तो हम अपने शरीर को एक जगह से दूसरी जगह ले जाते हैं, खाते हैं तो भोजन को ही नहीं हटाते, बल्कि अपनी बाहों, जबड़ों और जिह्वा को भी चलाते हैं। हम खाना पकाते हैं, कपड़ा बुनते हैं, मकान बनाते हैं तथा सैकड़ों ही काम करते हैं—इन सभी कामों में पदार्थों को ही इधर-उधर हटाते और रखते हैं। ऐसा करने में शक्ति व्यय होती है। वृक्ष भी बहुतेरे काम किया करते हैं, किन्तु भेद इतना ही है कि जानवरों के समान उनके कार्य हमको दिखलाई नहीं पड़ते। लम्बाई में बढ़ने से ही विदित होता है कि वे भी द्रव्य को नीचे से ऊपर उठाते हुए काम करते हैं। उनकी जड़ें धरती में घुसकर मिट्टी को इधर-उधर ढकेलकर कार्य करती हैं और उनके पत्ते हवा से द्रव्य को अपने अन्दर खींच लेते हैं। इससे यह प्रकट है कि पेड़ भी अपने जीवन में अनेकों कार्य करते हैं और पदार्थों का स्थान-परिवर्तन करते हैं।

एक समुद्री मछली के आहार से सम्बन्धित कड़ियाँ

सबसे ऊपर के सूक्ष्म वनस्पति-प्राणियों पर समुद्री कीड़े और उन पर नीचे दिए हुए उनसे बड़े झींगे, घोंघे आदि पलते हैं। इन्हीं घोंघों और झींगों को खाकर बड़ी मछलियाँ अपना निर्वाह करती हैं।

यह सारी शक्ति, जो जानवरों और पेड़ों के लिए अपने काम करने के लिए आवश्यक है, उन्हें कहाँ से प्राप्त होती है, इसे समझने के लिए एक उदाहरण सुनिए। एक लड़का जब गुलेल से किसी चिड़िया को निशाना बनाना चाहता है तो अपनी गुलेल की रबड़ को पीछे की ओर खींचता है। ऐसा करने से वह रबड़ के उन अणुओं को खींचकर अलग करता है जो साथ-साथ रहना चाहते हैं। ज्योंही वह रबड़ को छोड़ता है, अणु तुरन्त ही सिमटकर एक-दूसरे के पास आने का प्रयत्न करते हैं और रबड़ सिकुड़कर छोटा हो जाता है। रबड़ खींचने के लिए लड़के को ज़ोर लगाना पड़ा और जब तक वह उसको खींचे रहता है तब तक वह शक्ति रबड़ में एकत्रित रहती है। ज्योंही वह रबड़ को छोड़ देता है त्योंही उतनी शक्ति (जो उसने रबड़ के खींचने में लगाई थी) मुक्त हो जाती है और कंकड़ को ढकेलकर दूर फेंक देती है। गुलेल काम को करने—कंकड़ को फेंकने—की एक मशीन है, लड़का उसकी शक्ति का साधन है। इसी प्रकार सारी चलने-फिरनेवाली तथा क्रियाशील सृष्टि एक प्रकार की मशीन है। यदि उसे चलाने के लिए और चलते रहने के लिए शक्ति मिलती रहे तो वह अपना काम करती रहती है। बिना इस शक्ति के सारा संसार अचल और स्थिर हो जायगा—उसमें कोई गति न रह जायगी। इस शक्ति की सहायता से जीव

धारियों के काम कैसी सुन्दरता और नियमानुकूलता से चले जाते हैं !

सूर्य ही सारी शक्ति का उद्गम

गुलेल को तो बल लड़के ने दिया था, किन्तु सारी दुनिया के जीव-जन्तु, पेड़-पौधों को शक्ति देनेवाला कौन है ? वही आग का बड़ा गोला जो हमसे ९३ करोड़ मील दूर होते हुए भी हमको गर्मी और प्रकाश देता है—वही सूर्य अपनी किरणों द्वारा अपनी अखंड शक्ति को इस पृथ्वी तक भेजकर सारे प्राणि-वनस्पति-संसार को जीवित रखता है। इस सूर्य-शक्ति को कौन अपने वश में कर सकता है, यह आप "पेड़-पौधों की दुनिया" और "रसायन-विज्ञान" के लेखों में पढ़ चुके होंगे या आगे पढ़ेंगे। यहाँ तो हम इतना ही कह सकते हैं कि यह काम पेड़ों के हरे पत्ते ही कर सकते हैं। वे ही इस शक्ति को पकड़कर एकत्र कर सकते हैं और उसका प्रयोग विविध कामों में कर सकते हैं।

पेड़ों के हरे पत्तों में एक हरे रंग के पदार्थ के दाने होते हैं, जो प्रकाश द्वारा सूर्य से आनेवाली असीम शक्ति और उसे प्राप्त करनेवाली दुनिया के बीच एक मध्यस्थ दूत का कार्य करते हैं। पत्तों के अन्दर छेदों द्वारा हवा के प्रवेश करने पर जो कार्बन द्वयोषिद उसके अन्दर होता है उससे, इस पर्णहरित् (Chlorophyll) के कणों (हरे रंग के दानों) में पकड़ी हुई सूर्य की शक्ति के प्रभाव द्वारा, कार्बन और ओषजन अलग-अलग हो जाते हैं। यह महान् कार्य चुपचाप होता रहता है। किसी को इस बात का सन्देह भी नहीं होता कि इसमें कोई काम कर रहा है। कार्बन को तो पेड़ स्वयं अपने लिए रख लेता है, जो पानी और हवा द्वारा खींचे हुए लवणों और अन्य वस्तुओं से मिलकर भोजन-सामग्री में रूपान्तरित हो जाता है। ओषजन पेड़ के लिए बेकार होता है, अतएव वह पत्तियों से साँस द्वारा बाहर निकल जाता है। कार्बन और ओषजन के परमाणुओं में बड़ा स्नेह होता है। उनको एक दूसरे से अलग करना आसान नहीं। जब कभी वे एक दूसरे के निकट पहुँचते हैं, फ़ौरन् एक दूसरे से मिल जाते हैं। जब लड़का गुलेल तानकर छोड़ता है तो उसकी दी हुई शक्ति रबड़ के सिकुड़ने अथवा उसके अणुओं के मिलने से छूट जाती है और कंकड़ या पत्थर फेंकने का कार्य करती है। इसी प्रकार उतनी ही शक्ति जो कार्बन और ओषजन को अलग करने में ख़र्च हुई थी, कार्बन और ओषजन के पुनर्मिलन से काम करने के लिए छुटकारा पा जायगी। यह क्रिया जानवरों के ही शरीर में होती है। जब वे भोजन में वनस्पतियाँ ग्रहण करते हैं तो उनके शरीर में कार्बन पहुँचता है और जब वे साँस लेते हैं तो हवा से ओषजन शरीर में पहुँचता है। ये दोनों पदार्थ अपने पारस्परिक स्नेह के वश शरीर में ही एक दूसरे से मिल जाते हैं और उनके संसर्ग से जो शक्ति मुक्त होती है उसी से वे अपना काम करते हैं और उसी से शरीर को गर्मी मिलती है। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि हमारी भोजन-सामग्रियाँ ही वे शक्ति-भांडार हैं, जिन्हें हरे पेड़ों ने हमारे लिए तैयार किया है और जब हम चाहें इन शक्ति-भांडारों से थोड़ी-सी शक्ति को मुक्त करके काम ले सकते हैं। चूँकि पौधों में भोजन की शक्ति धूप और रोशनी से प्राप्त होती है अतएव हम कह सकते हैं कि हमारा खाना बोतल में बन्द की हुई धूप ही है !

दुनिया में खाना बनाने का सबसे विचित्र कारखाना

बाग़ों या खेतों में आप पेड़ों को प्रतिदिन ही बढ़ते देखते हैं, पर क्या आपके मन में यह विचार भी कभी उठता है कि पेड़ का प्रत्येक नया हिस्सा पत्तों में बननेवाले भोज्य पदार्थों ही से बढ़ रहा है ? जब आप आम या अमरूद को पेड़ पर बढ़ते और पकते हुए देखते हैं तो क्या आपके जी में
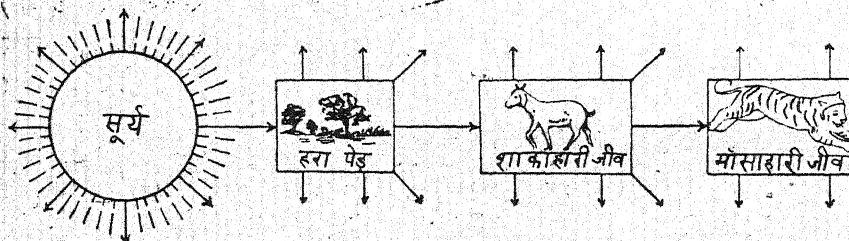
जीवों को शक्ति सूर्य से ही प्राप्त होती है

सूर्य की गर्मी उसकी किरणों द्वारा चारों ओर करोड़ों मील तक दौड़ती है। इस शक्ति को हरे वनस्पति ही पकड़कर उसकी सहायता से हवा, पानी और धरती से लिये हुए पदार्थों को भोजन-सामग्री में परिवर्तित कर सकते हैं। जब शाकाहारी जन्तु इन वृक्षों के बनाये हुए भोजन-पदार्थ खाते हैं तो वे भी अपनी शक्ति इस प्रकार सूर्य से ही प्राप्त करते हैं और इस तरह इन जीवों को खाकर मांसाहारी जीव भी शक्ति ग्रहण करते हैं।

इस बात का भी कभी विचार उठता है कि उनके आस-पास के पत्ते कैसे शक्कर और अन्य आवश्यक वस्तुएँ बनाकर इन फलों में पहुँचाकर हमारे लिए इकट्ठा कर देते हैं? जब आप हरे पत्तों को धूप में फैले हुए देखते हैं तो क्या आपको इस बात की अनुभूति होती है कि आप दुनिया के सबसे मुख्य और आवश्यक कारख़ाने को देख रहे हैं, जो बिना शोरगुल के कार्बन द्वयोषिद, पानी और लवणों को अपने में चूसकर धूप की शक्ति का प्रयोग करते हुए उन खाद्य-पदार्थों को बनाते हैं, जिन्हें पाकर पौधों के अन्य भाग बढ़ते और अपने लिए शक्ति इकट्ठी करते हैं? हम मूली, गोभी, पालक इत्यादि के कोमल पत्ते, और चना-मटर का साग कच्चा ही या पकाकर भी खाते हैं। बहुतेरे जानवर तो बिल्कुल घास-पात ही खाकर रहते हैं। तेज़ दौड़नेवाले घोड़े और भारी बोझ ढोनेवाले बैल इन्हीं वनस्पतियों के द्वारा इतना बल प्राप्त करते हैं। आलू, गाजर, शकरकंद, शलजम, प्याज़ द्वारा हम वही एकत्रित भोजन सामग्री प्राप्त करते हैं, जिसे वनस्पति बनाकर अपने धरती में दबे हुए भागों में इकट्ठा करते हैं। गेहूँ का पौधा अपने बीज के लिए जो भांडार बनाता है, उसे ही पीसकर हम आटा बनाते हैं।

प्राणि-वनस्पति-वर्ग के आश्चर्यजनक चक्र का एक दृश्य

पहले खाने में पृथ्वी पर सूर्य से प्रकाश और गर्मी के रूप में शक्ति आते दिखाई गई है। दूसरे खाने में हरे पेड़ इस शक्ति की सहायता से हवा से कार्बन द्वयोषिद लेकर कार्बन अपने में रख लेते और ओषजन वापस करते दिखलाई पड़ रहे हैं। तीसरे में एक गाय हरी वनस्पति को खाकर कार्बन प्राप्त कर रही है। चौथे में दिखलाया गया है कि गाय हवा से सांस लेने में ओषजन प्राप्त करती है जो उसके शरीर में जाकर खाए हुए पेड़-पत्तोंवाले कार्बन से मिलकर उसे शक्ति और गर्मी देता है और उसे चलने-फिरने योग्य बनाता है। जब गाय साँस बाहर निकालती है तो कार्बन गैस के रूप में शरीर से बाहर हवा में जा मिलता है और फिर पेड़ों के लिए उपस्थित हो जाता है। यही हाल सारे प्राणि-वनस्पति-जगत् का है। पाँचवें खाने में एक मनुष्य वनस्पति और मांस दोनों को ही खा रहा है। वह भी गाय के सदृश अपने भोजन से कार्बन पाता है और जब साँस लेता है तो ओषजन शरीर में जाकर उससे मिलता है। उन दोनों के मिलने से जो शक्ति मुक्त होती है उसी के कारण वह दौड़ता-भागता है जैसा कि छठे ख़ाने में प्रकट हो रहा है। भागते समय जब साँस निकलती है तो कार्बोनिक एसिड गैस बाहर निकल जाती है और पेड़-पौधे फिर इस निकली हुई गैस को अपने काम में लाते हैं। इस तरह फिर वही चक्र शुरू हो जाता है।

प्राणि-वनस्पति संसार का निरन्तर-गामी चक्र

जिस प्रकार जीवधारी भोजन की शृंखला द्वारा एक दूसरे से गुँथे हुए हैं, उसी प्रकार जीवन की शक्ति की ज़ंजीर की कड़ियाँ सूर्य को हरी वनस्पतियों से, उन वनस्पतियों को शाकाहारी जीवों

से और शाकाहारी जीवों को मांसाहारी जीवों से मिलाए हुए हैं (जैसा कि पिछले पृष्ठ के चित्र में दर्शाया गया है)। ध्यान देने की बात है कि प्रकृति ने कैसे इतने सरल तरीक़े से सूर्य-शक्ति को बाँधने (इकट्ठा करने) और फिर उसे मुक्त करने का अद्भुत उपाय रचा है। वनस्पतियों को ऐसा बनाया है कि उन्हें अपने व्यवहार के लिए कार्बन की ज़रूरत होती है। जानवरों की रचना ऐसी की गई है कि उन्हें ओषजन ही चाहिए। कार्बन और ओषजन दोनों ही, कार्बन द्वयोषिद के रूप में उस हवा में, जो पेड़ों और जानवरों दोनों को घेरे हुए हैं, सदा उपस्थित रहते हैं। सूर्य के विशाल भांडार से आवश्यक शक्ति बराबर आती रहती है। पेड़ इस शक्ति से काम लेकर हवा से कार्बन प्राप्त करते हैं और ओषजन को, जो उनके लिए बेकार है, फिर हवा में फेंक देते हैं। जानवर इस ओषजन को साँस द्वारा अपने काम में लाते हैं और जो कार्बोनिक एसिड गैस बेकार बचती है, उसे शरीर से बाहर निकाल देते हैं। यही कार्बन फिर पेड़ों के काम में आ जाता है।

प्रकृति का सदा चलता रहनेवाला चक्र ऐसा ही है, जिसमें कुछ भी बेकार नहीं जाता। इस जीवन-चक्र को चलाने के लिए न और कार्बन की ज़रूरत होती है और न ओषजन की ही। ये वस्तुएँ तो बार-बार उसी (जानवर से वनस्पति और वनस्पति से जानवर के) घेरे में घूमती रहती हैं। इस चक्र को चलता रखने के लिए केवल नई शक्ति ही और चाहिए और यह काफ़ी मात्रा में हमको सूर्य से मिलती है, तथा मिलती रहेगी, जब तक कि उसमें तेज है। अब आप समझ गये होंगे कि कैसे सूर्य ही संसार भर पर राज्य करता है, कैसे वनस्पतियाँ धूप की शक्ति को जमा कर लेती हैं, कैसे जीव उस शक्ति को प्राप्त करते हैं और इसके लिए वे किस प्रकार वनस्पतियों पर निर्भर हैं तथा वनस्पतियाँ स्वयं किस प्रकार जीवधारियों पर निर्भर हैं। यही जीवन का निरंतर-गामी चक्र है।

मांसाहारी चिड़िया के आहार की ज़ंज़ीर का एक दृश्य

सबसे ऊपर माहीगीर (१) जो अपने से छोटी चिड़ियों—लहिया (२) या छोटे चूहे आदि—को खाता है। माहीगीर और लहिया झींगुर (३) टिड्डे या भुनगे (४) इत्यादि कीटाणुओं तथा छोटी-छोटी मछलियों को पकड़कर खा जाते हैं। झींगुर और भुनगे इत्यादि स्थलवासी अन्य नन्हें-नन्हें जीवों तथा कूड़ा-कर्कट पर निर्वाह करते हैं। मछलियाँ जल में रहनेवाली सीप (६), केकड़े (७), घोंघे आदि जल-निवासी प्राणियों पर गुज़र करते हैं और ये सब जल में ही मिलनेवाले अन्य छोटे-छोटे जीवों को खाते हैं।

ऊपर लिखने के अनुसार कोई भी जीवधारी न तो केवल अपने ही लिए जीता है और न दूसरे जीवों से सम्बन्ध रक्खे बिना जीवित ही रह सकता है। सर्वश्रेष्ठ प्रकृतिवादी चार्ल्स डार्विन ने ही यह बात सबसे पहले साफ़-साफ़ समझाई थी। छोटे-से-छोटा जीव भी उस सम्पूर्ण रचना का एक अंश है, जिसको हम प्रकृति की दुनिया कहते हैं। प्रत्येक जीवन अन्य असंख्य जीवनों से सम्बन्धित है। कोई भी केवल अपने लिए न जन्म लेता है और न मरता है। एक प्राणी के जीवन-चक्र से दूसरे प्राणियों के जीवन-चक्र भी संबंध रखते हैं। शहद की मक्खियाँ जब शहद की खोज में फूलों
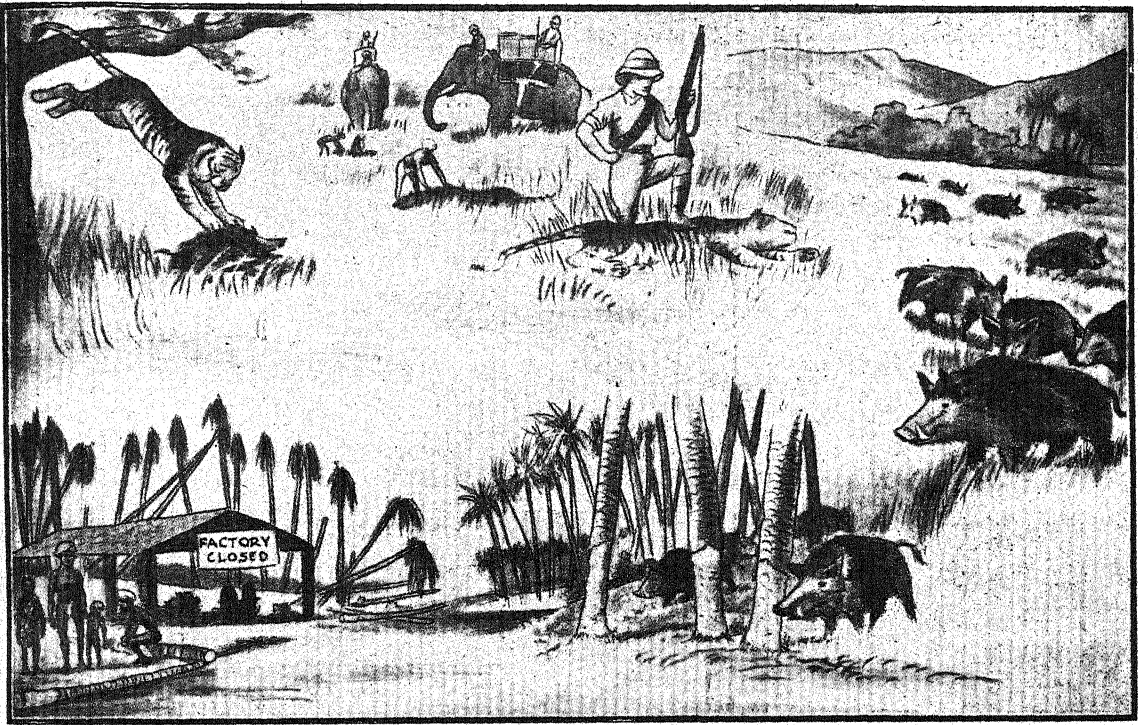
सुमात्रा द्वीप में एक समय चीतों का अधिक शिकार होने से वहाँ के निवासियों को अत्यन्त हानि पहुँची और वहाँ के हाकिम को चीतों का शिकार बन्द करने के लिए क़ानून बनाना पड़ा। ऐसा क्यों हुआ, आप इस चित्र को देखकर समझ सकेंगे। (ऊपर बाईं ओर से) चीता सुअर पर आक्रमण कर रहा है; चीते मारे जा रहे हैं; उनके अधिक मर जाने से सुअर बहुत बढ़ गए। (नीचे दाहिनी ओर से) इन बढ़े हुए सुअरों ने इतने खजूर के वृक्षों की छाल खाकर उन्हें सुखा डाला कि बहुत-से खजूर के तेल के कारख़ाने बन्द हो गए और काम करनेवालों की रोज़ी चली गई।

में घुसती हैं तो वे एक फूल से दूसरे फूल तक बीज-कण पहुँचाने में सहयोग देती हैं। उनका पारस्परिक व्यवहार हाथ और दस्ताने का-सा है। तालाबों में रहनेवाली कुछ मछलियाँ मच्छरों के बच्चों को निगल जाती हैं और फ़सली बुख़ार (मलेरिया ज्वर) को रोकने में सहायता करती हैं। इसलिए मनुष्य तथा ऐसी मछलियों, मच्छरों के बच्चों, मच्छरों और फ़सली बुख़ार में घनिष्ठ सम्बन्ध है। बाज़ कबूतर और चूहे आदि छोटे पक्षियों को खाकर रहता है। चूहे पानी में रहनेवाली मछलियों का शिकार करते हैं, मछलियाँ जल के ही झींगों और उनकी ही तरह के और पर्तधारियों (Crustacea) को निगल जाती हैं और ये जीव अपने से भी छोटे एककोषीय जीवों एवं नन्हीं-नन्हीं सूक्ष्म वनस्पतियों पर निर्भर रहते हैं। इन सब जीवों का पारस्परिक सम्बन्ध पृ० १३५४ का चित्र देखने से आपको भली भाँति समझ में आ जायगा।

जीवन का जाल

इसी प्रकार और जीव भी एक-दूसरे के साथ मकड़ी के जाल की तरह बँधे हुए हैं और डार्विन साहब के 'जीवन के जाल' का यही आशय है। विभिन्न प्राणियों के जीवनों के धागे एक-दूसरे के साथ जाले की रेखाओं की तरह या कपड़े के सूतों के समान बुने हुए हैं। सर जे० ए० टाम्सन के कथनानुसार हम आसानी से कभी भी नहीं बतला सकते कि कोई धागा कहाँ तक हमको ले जाता है। यदि एक भी धागा खिंच जाय तो बहुत-से धागे ढीले पड़ जाते हैं। यह बात प्रकृति में इस छोर से उस छोर तक सरासर चली जाती है। जीवन के जाल का हर एक धागा दूसरे धागों पर निर्धारित है। प्रकृति और अपने पास-पड़ोस का ज्ञान हमको जितना अधिक होता है, उतना ही हमारी समझ में आता जाता है कि प्रकृति विभिन्न कड़ियों की एक महान् संस्थिति है। इसमें दूसरों से बिल्कुल अलग रहना असम्भव है। हमको

नाना प्रकार के जीवों को बाँधे हुए इस तरह की कड़ियाँ सारे संसार में नज़र आती हैं। इन ज़ंज़ीरों की एक भी कड़ी टूट जाय या अलग हो जाय तो बाक़ी कड़ियों पर भी बिना असर पड़े नहीं रह सकता। जीवन-विज्ञान के इस सत्य के बहुत-से दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। यहाँ हम आपके सामने केवल दो ही उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं।

जीवन के जाल के कुछ उत्कृष्ट उदाहरण

भारतवर्ष और सुमात्रा जैसे देशों में मानव-जीवन के लिए चीता ख़तरे और जोखिम की वस्तु समझा जाता है और जब कोई चीता मारा जाता है तो लोग बड़े प्रसन्न होते हैं। वे समझते हैं कि उनका और उनकी भेड़-बकरियों का शिकार करनेवाला एक शत्रु कम हो गया। इसलिए कुछ साल पहले जब सुमात्रा के गवर्नर ने यह हुक्म निकाला कि कोई भी मनुष्य चीतों को बिल्कुल ही न मारे और जो इस हुक्म का पालन न करेगा उसे कड़ी सज़ा दी जायगी, तो वहाँ के निवासी बड़े ही आश्चर्य में पड़ गए! इस महा-भयानक मनुष्याहारी हत्यारे जीव की रक्षा करने की यह योजना सुमात्रावासियों के समझ में नहीं आई; फिर भी ऐसी आज्ञा देने का कारण बड़ा ही उपयुक्त था।

अधिकांश द्वीपवासियों की समृद्धि वहाँ के खजूर जैसे ताड़ के पेड़ के तेल के व्यापार पर ही निर्भर है। हरे-भरे पेड़ों से तेल अच्छा मिलता है, जिससे लोग अधिक धन प्राप्त करके लाभ उठाते हैं। जंगली सुअर इन ताड़ या खजूर के पेड़ों का भीषण शत्रु है। वह अपने तीक्ष्ण दाँतों से इन पेड़ों के धड़ों की छाल उखाड़ डालता है, जिसके कारण वृक्ष सूखकर गिर जाते हैं और तब सुअर उनके फलों को खा जाते हैं। अगर जंगली सुअरों की संख्या किसी कारण बहुत बढ़ जाय तो वे उतने ही ज़्यादा पेड़ों को बरबाद कर दें और लोगों को आर्थिक
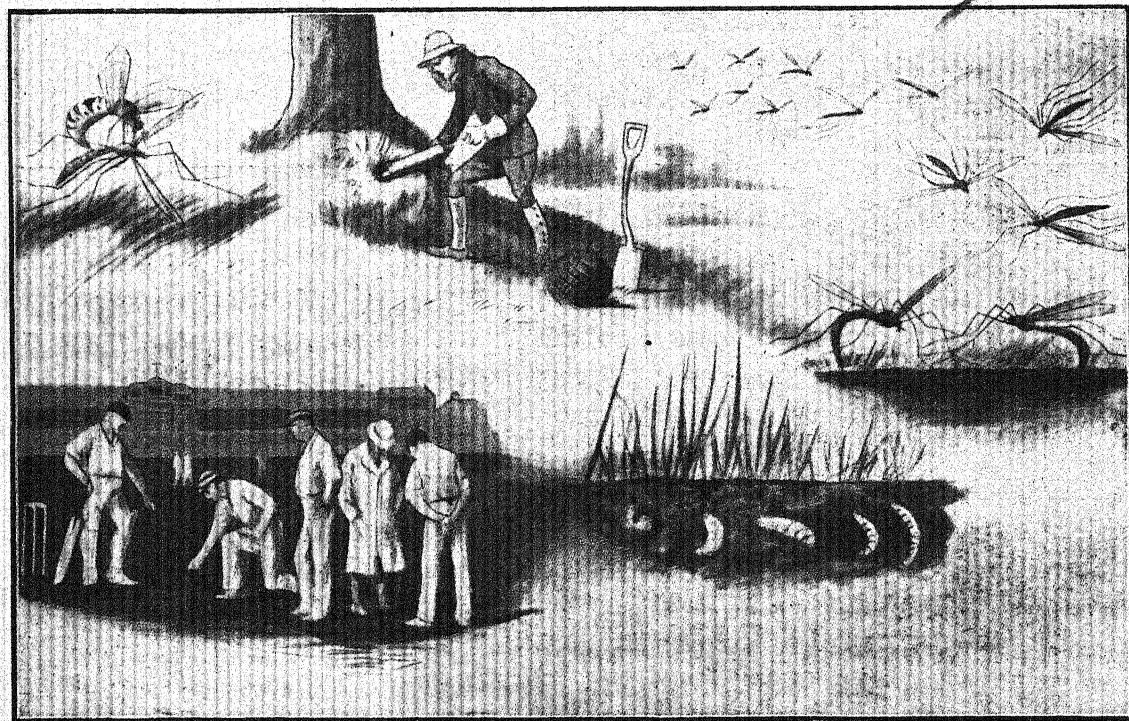
सन् १९३४ में बरों के असाधारण रीति से अधिक संख्या में मर जाने के कारण आगामी वर्ष विलायत में लार्डस् के प्रसिद्ध क्रिकेट के मैदान की घास ख़राब होकर कैसे खेल बिगड़ गया इसकी चित्रमय कहानी

(ऊपर से बाईं ओर से) बरें सारस-मक्खी का शिकार कर रही है; आदमी बरों के छत्ते जला रहा है; बरों के कम होने से सारस-मक्खियाँ ख़ूब बढ़ी; (नीचे दाहिनी ओर से) उनके बच्चे बहुत हुए और वे घास की जड़ें खा गए; घास जगह-जगह ग़ायब हो गई और खेलनेवाले अचम्भे में देख रहे हैं कि यह क्या हुआ।
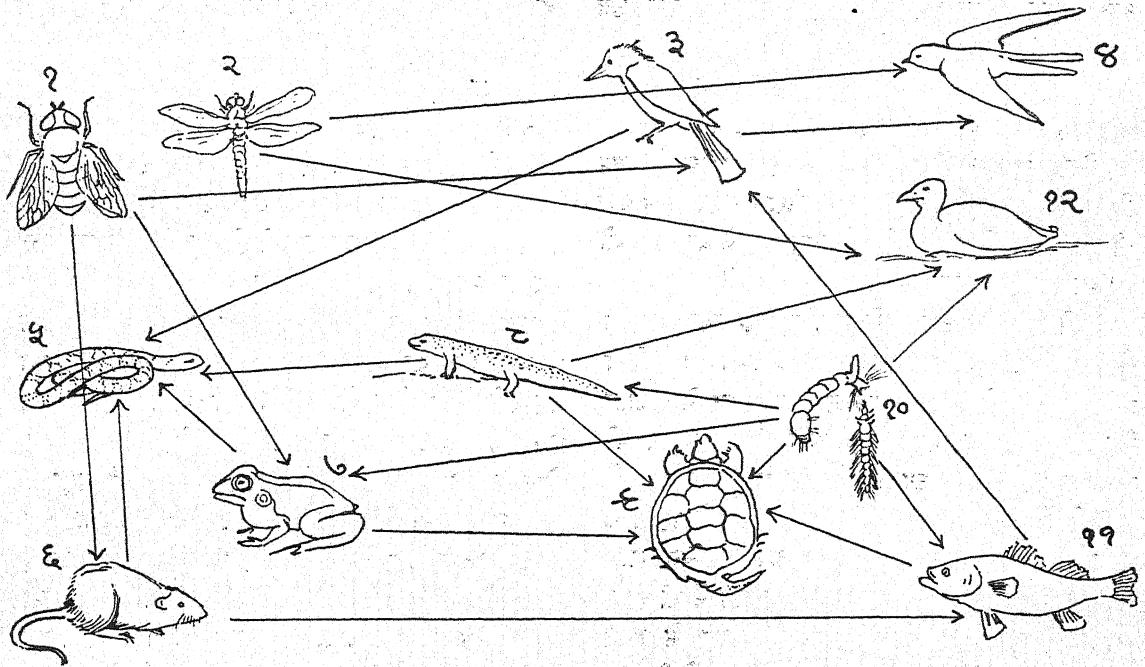
तालाब में और उसके आस-पास रहनेवाले जीव जीवन की आश्चर्यजनक श्रृंखला में एक-दूसरे से कैसे गुँथे हुए रहते हैं ?

हवा में उड़नेवाले पतिंगे और चिड़ियाँ १-४, स्थल-वासी साँप और चूहे ५-६, जल-थल-चर मेंढक, न्यूट और कछुआ ७-९, जल-चर कीड़े-मकोड़े, मछली और बतख़ १०-१२, कैसे एक दूसरे को पकड़ते और खाते हैं तथा सदा जीवन-संग्राम में व्यस्त रहते हैं, यह ऊपर के चित्र द्वारा दर्शाया गया है। तीरों की नोक से विदित होता है कि कौन-सा जीव किस जीव को खाता है। इससे हमें ज्ञात होता है कि एक ही विशिष्ट आवेष्टन (environment) में प्रकृति ने जीवधारियों के निर्वाह का कैसा प्रबंध कर रक्खा है।

हानि पहुँचाएँ। सभी जानते हैं कि चीता जंगली सुअर का भी वैरी है और अन्य जानवरों के मांस की अपेक्षा उसे जंगली सुअरों का मांस ही अधिक अच्छा लगता है। इसलिए जब चीते काफ़ी बढ़ जाते हैं तो जंगली सुअरों को खाकर उनकी संख्या को बढ़ने से दबाये रहते हैं। जब शिकारियों ने बहुत-से चीते मार डाले तब सुमात्रा में उनकी संख्या इतनी कम हो गई कि जंगली सुअर बहुत बढ़ गए और उन्होंने इतने ताड़ के पेड़ नष्ट कर डाले कि तेल के कारख़ाने बन्द हो गए। कारख़ानों के नौकर छुड़ा दिये गये और लोगों को जीविका प्राप्त करना कठिन हो गया। इसलिए वहाँ के गवर्नर को जनता की भलाई के ही ध्यान से चीतों की रक्षा का हुक्म निकालना पड़ा। मनुष्य, तेल, ताड़ का पेड़, सुअर, तथा चीते के ज़ंजीर की एक कड़ी (चीता) के कमज़ोर होने से सब कड़ियों का समतुलन अव्यवस्थित हो गया।

इससे भी एक रोचक उदाहरण सन् १९३५ में विलायत में देखने में आया था। वहाँ का क्रिकेट खेलने का प्रसिद्ध लॉर्ड्स् वाला मैदान ख़राब हो जाने से खेल में बड़ी बाधा पड़ी। घास के ख़राब हो जाने के कारण की खोज की गई तो घास की जड़ खानेवाले एक प्रकार के कीड़े उस साल सारे घास के मैदान में मिट्टी के नीचे बहुत बड़ी संख्या में दिखलाई पड़े। ये कीड़े मच्छरों-जैसी उड़नेवाली सारस-मक्खी (Crane fly) के बच्चे होते हैं, जो ज़मीन के नीचे घास की जड़ों को खाकर रहते हैं। ये मक्खियाँ भी उस साल मैदान में बहुत कसरत से थीं।

बरैंया या ततैया इन मक्खियों को डंक मारकर खा जाती हैं। जाँच करने से पता चला कि पिछले साल में असाधारण तौर से वहाँ बरैंयों के छत्ते नष्ट हो गए थे। फल यह हुआ कि सन् १९३५ में बरैंयों की तादाद कम रह गई और सारस-मक्खियाँ, जिन्हें बरैंयाँ खाया करती थीं, ख़ूब बढ़ीं और पहले सालों की अपेक्षा उनके अंडे और

बच्चे भी ख़ूब पैदा हुए। क्रिकेट के मैदान की घास उस साल अच्छी न होने का यही कारण था।

दुनिया के भिन्न-भिन्न भागों में इसी तरह का पारस्परिक व्यवहार, ऐसा ही समतुलन, वर्षों के बाद घटने-बढ़ने व मिलने-जुलने से क़ायम हो गया है। दुनिया के सब हिस्सों में एक से ही सम्बन्ध नहीं मिलते। हर जगह वहाँ की जलवायु, भूमि और पड़ोस के अनुसार वे बदलते रहते हैं। हर जगह के वनस्पतियों और जानवरों में आपस में वहाँ की दशा के उपयुक्त ऐसा पारस्परिक व्यवहार बँध जाता है कि जिससे वे सब साथ-साथ रह सकते हैं। सभी को अपनी ज़रूरत के अनुकूल भोजन और स्थान मिल जाता है। एक-दूसरे पर आक्रमण करते रहने और एक-दूसरे को खा जाने पर भी एक उपजाति के जीव दूसरी उपजाति के प्राणियों को बिलकुल नष्ट नहीं कर डालते—वे प्रकृति के साधारण मेल को क़ायम रखते हुए अपना उचित भाग ही लेते रहते हैं। बहुधा इस स्थायी समतुलन में भी घटा-बढ़ी होती रहती है, क्योंकि जीवन के जाल में अभी तक और धुना-बुनी लगी हुई है। कभी-कभी एक ऐसी बात, जो ऊपरी दिखावे में बहुत छोटी-सी मालूम होती है, कुछ समय के लिए समतुलन में बाधा डाल देती है। परन्तु प्रकृति थोड़े-बहुत दिनों में फिर सब बातों को अपने आप ज्यों-की-त्यों ठीक कर लेती है।

एक बार की बात है कि दक्षिणी अमेरिका में वसन्त ऋतु जल्दी ही शुरू हो गई और गर्मी लगते ही अन्य सालों से अधिक वर्षा हुई। सब चीज़ों की पैदावार ख़ूब अच्छी हुई। फूल भी ख़ूब आए और शहद की मक्खियों ने उनसे यथाशक्ति लाभ उठाया और अपनी संख्या भी ख़ूब बढ़ा-चढ़ा ली। यहाँ तक तो जो हुआ वह अच्छा ही हुआ, लेकिन जंगली चुहियों ने इन मक्खियों का बड़ा पीछा किया और उनको खाने से इन चुहियों की इतनी वृद्धि हुई कि गर्मी समाप्त होने से पहले ही सारा देश उनसे भर गया। सचमुच ये चुहियाँ उस समय बड़ा दुःख देने लगीं। बस्तियों के निकट कुत्ते और बिल्लियाँ बराबर उनका शिकार करते थे। कहा तो यह भी जाता है कि मुर्ग़ियाँ तक उनको खाने लगी थीं। उल्लू और बाज़-जैसी शिकारी चिड़ियाँ, जो और सालों में उड़कर दूसरी जगह चली जाया करती थीं, अपना भोजन वहीं पर बहुतायत से पा जाने के कारण यहीं रह गईं। ये चुहियाँ इतनी अधिक हो गई थीं कि अपने खाने की सारी सामग्री को वे सफ़ाचट कर गई थीं। इसलिए वे कमज़ोर और रोगी हो गईं। फलस्वरूप अगली वसन्त ऋतु आते-आते वे बहुत कम बची रह गईं। वे सब तो मर नहीं गई थी, अतएव दो एक वर्ष में फिर अपनी औसत संख्या तक पहुँच गईं और प्रकृति का संतुलन फिर ज्यों-का-त्यों हो गया। इस प्रकार के बहुतेरे उदाहरण हैं। इस छोटी-सी पुस्तक में हम उन्हें कहाँ तक लिखें!

प्रकृति के समतुलन में मनुष्य द्वारा बाधा

कभी-कभी मनुष्य ख़ुद अपनी ही करतूतों से जान-बूझकर या अनजान में किसी देश की प्रकृति के समतुलन में बाधा डाल देता है और उसका फल भी उसे भुगतना पड़ता है। इसका एक बड़ा अच्छा उदाहरण आस्ट्रेलिया में ख़रगोशों के ले जाने का है। वहाँ ख़रगोश बिल्कुल न थे। वहाँ आरंभ में बसनेवाले अंग्रेज़ों ने थोड़े से पालतू ख़रगोश ले जाकर खेतों में छोड़ दिए और उनकी रक्षा के लिए क़ानून बना दिए। चूँकि वहाँ ख़रगोशों पर आक्रमण करनेवाले क़ुदरती शत्रु कुत्ते, बिल्ली, भेड़िया इत्यादि न थे, अतएव वे थोड़े ही वर्षों में वहाँ इतने बढ़े कि नाज पैदा होना असम्भव-सा हो गया। खेत के खेत मौक़ा पाने पर वे रात भर में साफ़ करने लगे। तब जनता को उनकी संख्या कम करने का प्रयत्न करना पड़ा। किसानों के लिए यह क़ानूनी हुक्म हो गया कि वे ख़रगोशों को मारें, उन्हें विष दें और उनके बिलों को खोदकर फेंक दें। इस पर शिकारियों के झुंड-के-झुंड निकल पड़े और कोसों से घेर-घेरकर खेतों में उनका शिकार किया गया। इतना सब करने पर भी उनसे चैन पाना कठिन हो गया।

अचम्भे की बात है कि पूर्वी भागों से ये ख़रगोश पश्चिमी आस्ट्रेलिया में भी लगभग १००० मील के बीहड़ और जलहीन मैदानों को पार कर पहुँच गए। वहाँ की और उत्तरी क्वीन्सलैंड की सरकारों को उनसे युद्ध ठानना पड़ा। ख़रगोशों को रोकने के लिए उन्होंने हज़ारों मील तक इकहरी ही नहीं बल्कि दोहरी टट्टियाँ बनाईं। इनके ऊपर बराबर पहरेदार रहते हैं, जो टट्टी के टूट जाने पर उसकी फ़ौरन् मरम्मत करते हैं और ख़रगोश को देखते ही मार डालते हैं। दीवारें या टट्टियाँ ज़मीन के अन्दर तक इतनी गहरी बनाई गई हैं कि ख़रगोश उनके नीचे बिल खोदकर उस पार न पहुँच जायँ। ख़रगोशों से भरे हुए विक्टोरिया नामक प्रान्त में यह नियम है कि जो कोई ख़रगोश पालेगा उस पर १०० पौंड जुरमाना होगा। ऐसा ही नुक़सान संयुक्त राज्य अमेरिका में भी ख़रगोशों और गौरैयों के प्रचार करने से हुआ। पर यहाँ हम इनका विस्तृत वर्णन करने में असमर्थ हैं।

मनुष्य की कहानी
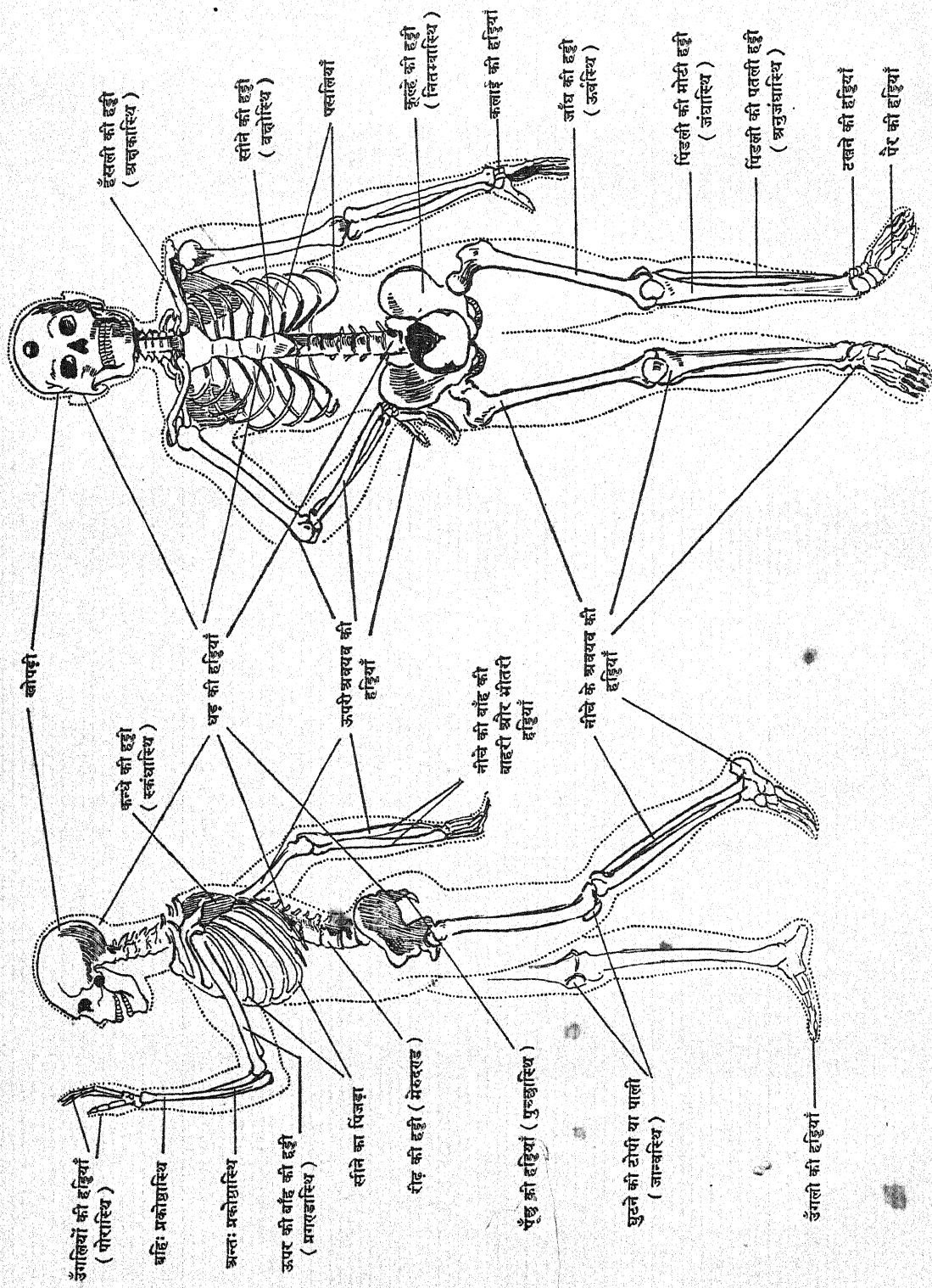
अस्थि-पंजर के पार्श्व और सामने के चित्र (कटावदार रेखा शरीर की स्थूल रूपरेखा को सूचित करती है)

शरीर को स्थिर रखनेवाला सुदृढ़ लचीला आधार—अस्थिपंजर

सम्पूर्ण शरीर पर मढ़ी हुई खाल और उसके नीचे रहनेवाली मांस-पेशियों की रचना और उनके अद्भुत कर्त्तव्यों का रोचक विवरण हम आपको सुना चुके हैं। अब हम आपका ध्यान हड्डियों के उस ढाँचे की ओर ले जाना चाहते हैं, जो मांस के नीचे छिपा हुआ है। यह तो आप सब जानते ही हैं कि शरीर को टटोलने पर मांस के नीचे जो कड़े भाग जान पड़ते हैं वही हड्डियाँ हैं। यह बात भी सर्वविदित है कि हाथ-पैर, उँगली और खोपड़ी की हड्डियाँ एक-सी नहीं हैं। क्या आपने कभी यह सोचा है कि बाँह के अगले हिस्से को तो आप कोहनी से घुमा सकते हैं लेकिन अगली टाँग को आप घुटने पर क्यों नहीं मोड़ सकते? आपको यह तो मालूम होगा कि शरीर में कई हड्डियाँ हैं, किन्तु कदाचित् आपमें से बहुतों को यह सुनकर अत्यन्त आश्चर्य होगा कि इन हड्डियों की संख्या २०० से भी अधिक है और वे सब हमारे शरीर में कई आवश्यक कार्य करती हैं। इस लेख में हम इन्हीं का रोचक वर्णन करने जा रहे हैं।

हड्डियों का आकार-प्रकार भिन्न क्यों है?

अधिकतर जीवों में हड्डी एक नितान्त आवश्यक वस्तु है। जिस प्रकार प्रत्येक पेचीदा यंत्र में उसका एक ढाँचा अवश्य ही होता है, जिस पर उसके भिन्न-भिन्न पुर्ज़े सधे रहते हैं, उसी भाँति शरीर-रूपी कल में भी एक कड़ी ठठरी है, जिसको कंकाल या अस्थि-पंजर कहते हैं और जो बहुत-से टुकड़ों या हड्डियों से बनी हुई है। यदि हम शरीर से खाल, मांस और अन्य कोमल अंगों को काट-छाँटकर निकाल दें तो हड्डियों की एक ठठरी ही शेष बच रहेगी, जिसके सम्मुख और बग़ल से लिये गए चित्र इसी पृष्ठ के सामने बने हुए हैं। इनके देखने से आपको समझ में आ जायगा कि इस ढाँचे में बहुत-सी भिन्न-भिन्न आकारों की हड्डियाँ हैं और ये ठठरी में सिर से लेकर पैर तक फैली हुई हैं। ये असंख्य हड्डियाँ सब एक-सी ही नहीं हैं। वास्तव में यदि ध्यान से देखा जाय तो पता चलेगा कि सब हड्डियाँ भिन्न-भिन्न हैं, उनमें से कोई भी किसी से मिलती नहीं है। कुछ खोखली हैं तो कुछ ठोस हैं; कुछ बहुत पतली हैं तो कुछ बहुत मोटी; कुछ बिल्कुल नन्हीं-सी हैं तो कुछ बहुत लम्बी; कुछ सीधी हैं और कुछ टेढ़ी या घुमावदार। ऐसा क्यों है? उदाहरण के लिए कलाई, हाथ और उँगलियों की हड्डियों पर ही ध्यान दीजिए। ये हड्डियाँ आपस में जिस रीति से मिली हुई हैं वह पेचीदा अथवा असाधारण प्रतीत होती है; किन्तु यह निश्चित समझिए कि इस ढाँचे का प्रत्येक भाग कोई-न-कोई उपयोगी काम देता है और हर एक की रचना ऐसी की गई है कि वह अपना काम पूर्ण योग्यता से कर सके। हाथ और कलाई की हड्डियों के तेरहों टुकड़े इतनी सुन्दरता से एक-दूसरे के साथ मिलाये गये हैं कि जब हम क़लम से लिखते हैं, हथौड़ा चलाते हैं, सुई से सीते हैं, भीगे हुए कपड़े को निचोड़ते हैं, शरीर को धोते हैं, या हज़ारों अन्य कठोर या सुकुमार कार्य अपने हाथों से लेते हैं, तब ये हड्डियाँ बड़ी सुन्दरता से मिल-जुलकर अपना काम कर लेती हैं। इनसे अच्छा कोई भी प्रबन्ध का सोचना या ध्यान में आना असम्भव-सा जान पड़ता है। यदि इन हड्डियों की संख्या कम होती तो हथौड़ा या और कोई भारी औज़ार चलाने पर हमें ऐसा धक्का लगता कि कदाचित् उसे हमारा हाथ न सह सकता और शायद वह टूट जाता।

हड्डियों के पारस्परिक अन्तर का इससे भी मनोरंजक उदाहरण हमें ऊपरी और निचली बाँह की हड्डियों में दिखलाई पड़ता है। ठठरियों के चित्र में दिखलाई पड़ रहा है कि ऊपरी बाँह में तो एक ही हड्डी है, किन्तु नीचेवाली बाँह में दो हड्डियाँ हैं। यह क्यों? जब भुजा के ऊपरी भाग में एक हड्डी से काम चलता है, तो नीचेवाली में दो की आवश्यकता क्यों है? क्या प्रकृति से कोई भूल हो गई है? नहीं। नीचे की बाँह में दो हड्डियों के होने से ही हम सारी घुमाने-

मरोड़नेवाली गतियाँ कर सकते हैं। यदि उसमें ऊपरी बाँह के समान एक ही हड्डी होती तो हम न तो दीवाल-घड़ी में चाभी ही लगा पाते और न पेचकश से ही काम ले सकते! इस प्रकार के बहुतेरे मरोड़ने और ऐंठनेवाले काम करना हमारे लिए उस हालत में दुष्कर हो जाता। यही बात टाँग की हड्डियों के विषय में भी कही जा सकती है।

अन्य हड्डियों के भी आकार और रचना के भिन्न-भिन्न होने के ऐसे ही अनेक कारण हैं। खोपड़ी, सीने और क़न्धे की सभी हड्डियाँ चपटी हैं। भुजाओं और टाँगों की हड्डियाँ लम्बी, गोल और खोखली हैं। रीढ़ की हड्डियाँ ऐसी हैं कि उनकी गिनती न चपटी हड्डियों में ही हो सकती है और न लम्बी में ही। चपटी हड्डियाँ वहीं हैं जहाँ भीतर के आवश्यक यन्त्रों की रक्षा करनी होती है। शरीर का आवश्यक अवयव मस्तिष्क खोपड़ी की चपटी हड्डियों के अन्दर ही बंद है। इसी तरह सीने की हड्डियों से हृदय, फेफड़े जैसे ज़रूरी अंग सुरक्षित हैं। जिन अंगों को हिलाने-डुलाने की आवश्यकता पड़ती है, उनकी हड्डियाँ लम्बी हैं; परन्तु इस ख़याल से कि पेशियाँ उन्हें सहज में चला-फिरा सकें, वे पोली रक्खी गई हैं, ताकि उनका बोझ न बढ़े। प्रकृति ने शरीर के हर एक भाग की हड्डी को उस भाग के कार्य के उपयुक्त ही बनाया है।

हड्डियाँ क्या करती हैं?

आइए, अब हम यह जानने की कोशिश करें कि हड्डियों से बने हुए ढाँचे के और क्या-क्या काम हैं? ढाँचे का सबसे पहला कर्त्तव्य शरीर को साधे रहना और उसके रूप को स्थिर रखना है। यही कारण है कि अधिकांश जीवों में अस्थि-पंजर की उपस्थिति नितान्त आवश्यक है। यदि किसी अदृश्य किरण के द्वारा एक हाथी अथवा मनुष्य के शरीर की हड्डियाँ ग़ायब कर दी जायँ या गला दी जायँ तो कल्पना कीजिए कि उसकी क्या दशा हो जायगी! वह अपनी शक्ल-सूरत खोकर मांस का एक लोथड़ा बन जायगा। हड्डी के बिना मानव-रूपी कल ऐसी लाचार हो जायगी जैसे कि पानी के बाहर मछली। अगर शरीर में हड्डियाँ न होतीं तो न वह सीधा खड़ा हो सकता और न वह तेज़ी से चल-फिर ही सकता। इसलिए हड्डियों का सबसे ज़रूरी काम शरीर के आकार को स्थिर रखना है।

दूसरा काम शरीर के सबसे आवश्यक अंगों की रक्षा करना है। कई हड्डियों के मिल जाने से हमारे शरीर में दो मुख्य ख़ाने या सन्दूक़-से बन गए हैं, जिनमें शरीर के सबसे ज़रूरी अंग सुरक्षित हैं। शरीर का सर्वोत्तम अवयव मस्तिष्क कैसी सुदृढ़ खोपड़ी के भीतर बन्द है! उससे निकलनेवाली महत्त्वपूर्ण सुषुम्ना नाड़ी, जो सारे शरीर के कार्यों का निदर्शन करती है, खोखली पीठ की मज़बूत खोखली गुरियों में से होकर जाती है। भीतरी कान और आँखें इसीलिए खोपड़ी के गड्ढों में घुसे हुए हैं कि सहज में उन्हें चोट न लग जाय। पसलियाँ और सीने की हड्डी भी मिलकर एक पिंजड़े का काम देती हैं, जिसमें हृदय और फेफड़ों-जैसे क़ीमती अंग सुरक्षित हैं। यदि ये आवश्यक अंग हड्डियों के कोष्ठ या पिंजड़े में सुरक्षित न होते तो बात की बात में टूट-फूट जाया करते और शरीर बेकार हो जाता।

हड्डियों का तीसरा काम यह है कि उनसे पुट्ठे जुटे रहते हैं और इस प्रकार हड्डियों से जुड़े रहने ही के कारण वे शरीर के अंगों में गति या चाल पैदा करते हैं। जोड़दार हड्डीवाले जानवरों में पेशियाँ जोड़ों ही के ऊपर सिकुड़ या फैलकर अपना काम करती हैं और उन्हें इधर-उधर सरका और मोड़ सकती हैं। इसी प्रकार उन्हें चलने-फिरने तथा अन्य कामों को करने की शक्ति प्राप्त होती है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण टाँग और हाथ की हड्डियाँ हैं। वे एक दूसरे से इस तरह लगी हुई हैं कि जब उनमें चिपटे हुए पुट्ठे सिकुड़ते या फैलते हैं तो हम अपनी टाँगों को आगे-पीछे हटाकर चल-फिर सकते और बाँह को आगे की ओर फैला या पीछे की ओर मोड़ सकते हैं। सीने की हड्डियों में चिपटे हुए पुट्ठों के ही सिकुड़ने और फैलने से हम अपनी पसलियों को साँस लेते समय ऊँचा या नीचा कर सकते हैं, जिससे फेफड़ों में हवा भरती या निकलती रहती है।

यह सच है कि गति पुट्ठों ही से होती है, लेकिन यदि हड्डियाँ एक 'लीवर' या टेकन का कार्य न करतीं तो पुट्ठे बिलकुल बेकार हो जाते—गति करना उनके लिए असम्भव हो जाता। हम नित्य ही देखते हैं कि जब एक मज़दूर किसी भारी पत्थर को ढकेलना चाहता है तो वह एक लम्बे टेकने की मदद लेता है। वह पत्थर के नीचे छड़ को टेककर भारी बोझ को सहज में सरका लेता है। कभी-कभी टेक लगाने के लिए वह दूसरे छोटे पत्थर या लकड़ी के कुन्दे का भी सहारा लेता है। हड्डियों में भी एक-दूसरे के बीच में चूल होती है और चूल के ऊपर एक हड्डी को दूसरे की तरफ़ खींचना पुट्ठों का ही काम है। इसलिए हड्डियाँ जोड़ों के ऊपर एक टेकने का ही काम देती हैं। लेकिन वे अधिकांश अवस्थाओं में उपरोक्त वर्णित टेकने से भिन्न हैं। शरीर-रूपी मशीन में बहुधा अपने सामर्थ्य से भी अधिक तेज़ गति उत्पन्न करने की आवश्यकता होती

है। जब एक बच्चा सड़क पर अपनी ओर मोटर आते देखता है तो उसके लिए आवश्यक है कि उसके पुट्ठे टाँगों की हड्डियों को इस प्रकार खींचें कि उसका शरीर मोटर के रास्ते से जल्दी ही हट जाय और ऐसा ही होता भी है। उदाहरणार्थ—द्विशिरस्का नामक पेशी नीचे की बाँह की हड्डी के दसवें भाग पर लगी हुई है। इससे यह होता है कि जब हड्डी का वह हिस्सा, जहाँ पेशी चिपटी हुई है, एक इंच हटता है तो हाथ दस इंच हट जाता है। हाथ-पैर की सारी गति इसी प्रकार के टेकनों द्वारा होती है। इसी व्यवस्था के कारण हम तेज़ी से दौड़ सकते, सहज में कूद जाते, ज़ोर से गेंद फेंक लेते और अन्य फुर्ती के काम कर सकते हैं। इनके अलावा हड्डियाँ सारे शरीर में दृढ़ता भी लाती और शरीर के तन्तुओं को सहारा देती हैं। यदि हड्डियाँ न हों तो हरएक भाग पर दबाव आदि पड़ने पर शरीर अपना रूप ही बदल दे। हाथ और पैरों में यदि हड्डियों के कारण दृढ़ता न होती तो न हम भारी बोझ उठा सकते और न पैरों के सहारे खड़े ही हो सकते।

खोपड़ी के सामने और पार्श्व के चित्र (दे० पृ० १३६४ का मैटर)

ढाँचे की विशेषता

हड्डियों का ढाँचा हमारे शरीर को दृढ़ और सीधा तो रखता है, परन्तु वह एक कारख़ाने या मकान की ठठरी की तरह बिल्कुल सीधा और अचल नहीं है। वह तो मज़बूत होते हुए भी जगह-जगह से मुड़ जाता है, जिससे हम इच्छानुसार अंगों को तोड़-मोड़, घुमा-फिराकर उनसे विविध काम ले सकते हैं। यही तो उसकी ख़ूबी है! उसकी दृढ़ता और जगह-जगह का लचीलापन ये दोनों ही विशेषताएँ सराहनीय और अचम्भित कर देनेवाली हैं। अगर यह ढाँचा सिर से पैर तक कठोर और अचल होता, यदि उसमें बहुत-सी छोटी-छोटी जोड़दार हड्डियों की जगह एक-दो या थोड़ी ही सी बड़ी हड्डियाँ होतीं, तो न हमारी उँगलियाँ मुड़तीं, न हाथ घूमते, न पैर ही उठते और न गर्दन ही इधर-उधर को हिल पाती। पर यह ढाँचा तो मज़बूत और कड़ा होते हुए भी ऐसा बना है कि जगह-

जगह झुक और मुड़ सकता है। यह इसी कारण से है कि वह बहुत-सी हड्डियों का बना हुआ है। इससे ढाँचे को दृढ़ता प्राप्त होती है, जो एक ही बड़ी हड्डी से बने हुए ढाँचे में कदापि नहीं हो सकती थी। एक ही अंग में कई हड्डियाँ क्यों होनी चाहिए, इसका उत्तर यह है कि अगर एक अंग में एक ही हड्डी रहती तो चोट अथवा किसी कारणवश उसके टूट जाने पर वह अंग बिल्कुल बेकार हो जाता। कई हड्डियों के होने से, यदि एक हड्डी या उसके किसी एक भाग पर चोट आ जाती है तो उसकी तकलीफ़ उसी हड्डी या जगह पर जान पड़ती है—सारा अंग उससे बेकार नहीं हो पाता।

कठोर परिश्रम और अध्यवसाय से हम अपनी ठठरी की शक्ति और लचक अधिक भी कर सकते हैं। साधारण मनुष्य छोटी-सी गाड़ी और इक्के के नीचे दब जाय तो उसकी हड्डी-पसली टूट जाती हैं; परन्तु भारतवर्ष में कौन राममूर्त्ति के व्यायाम-संबंधी करतबों से परिचित नहीं है? वह मनों भारी पत्थर की सिल अपने सीने पर रखकर तोड़वा लेते थे और आदमियों से लदी गाड़ी को अपने ऊपर रखे हुए तख्ते पर से बेखटके निकलवा लेते थे। इससे स्पष्ट है कि कसरत इत्यादि से हड्डियों में महान् शक्ति आ सकती है। हमने यह भी देखा है कि सरकस में काम करनेवाले कई खिलाड़ी अपने शरीर को ऐसा मोड़-माड़ लेते हैं कि मानों उनके शरीर में हड्डी है ही नहीं! बचपन में हड्डियों में लचीला-पन अधिक होता है और बुढ़ापे में कम हो जाता है। यही कारण है कि बच्चों की हड्डियाँ जल्दी मुड़ जाती हैं, परन्तु टूटती नहीं और सयानों की हड्डी जल्द टूट जाती है। यही इस ढाँचे की विशेषता है। यह सख्त भी है और लचीला भी।

अस्थिपंजर के हिस्से और हड्डियों की संख्या

ठठरी का चित्र देखने से पता चलता है कि वह दो मुख्य भागों में विभाजित हो सकती है—एक वह सीधा खड़ा हिस्सा, जिसमें खोपड़ी और पीठ व सीने की हड्डियाँ शामिल हैं; दूसरा वह भाग जो इस बीच के सीधे भाग से दोनों भुजाओं और टाँगों तथा कन्धे व कूल्हे की हड्डियों के रूप में लटका है।

पूर्ण वयस्क मनुष्य की ठठरी में लगभग २०६ भिन्न-भिन्न हड्डियाँ होती हैं, लेकिन जीवन की सभी अवस्थाओं में उनकी संख्या एक-सी नहीं रहती। नवजात बालक में २७० हड्डियाँ होती हैं। इनमें से कुछ बड़े होने पर एक दूसरे से जुड़ जाती हैं। कई हड्डियाँ ऐसी होती हैं, जो जवानी में अलग रहती हैं, किन्तु वृद्धावस्था में एक दूसरे से मिल जाती हैं। रीढ़ में पहले-पहल ३३ अलग-अलग टुकड़े या मोहरे होते हैं। इनमें से २४ आम तौर से ज़िन्दगी भर एक-दूसरे से पृथक् बने रहते हैं। २५वें से लेकर २९वें तक एक-दूसरे से जुटकर मज़बूत कूल्हे या त्रिक की हड्डी बन जाते हैं और पीछे के शेष चार मोहरे भी बहुधा एक-दूसरे में सटकर पूँछ की एक हड्डी में परिणत हो जाते हैं। इसी तरह युवावस्था में खोपड़ी में २२ भिन्न-भिन्न हड्डियाँ दिखलाई पड़ती हैं, लेकिन बच्चे की खोपड़ी में उससे ज़्यादा और वृद्ध की खोपड़ी में उससे कम हड्डियाँ पाई जाती हैं।

शरीर के ढाँचे की २०६ हड्डियाँ निम्न प्रकार बँटी हैं—

खोपड़ी	चेहरे में १४, ऊपरी हिस्से में ८; कुल २२
रीढ़	२४ + २ (५ + ४) = २६
भुजाएँ	हर एक में ३२; दोनों में ६४
पैर	हर एक में ३१; दोनों में ६२
सीना	२५

ये सब १९९ हड्डियाँ हुईं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक कान में ३ हड्डियाँ हैं और १ हड्डी स्वरयंत्र और दाढ़ी के बीच में होती है। इस तरह यदि हम शरीर को सात भागों में विभक्त कर दें—एक खोपड़ी, दूसरा गर्दन, तीसरा धड़ और शेष चार हाथ-पैर—तो हम देखेंगे कि प्रत्येक भाग में लग-भग ३० हड्डियाँ होती हैं। इस लेख में इन सब हड्डियों का विस्तारपूर्वक वर्णन करना संभव नहीं है, इसलिए हम अस्थि-पंजर के भागों का थोड़ा-सा हाल संक्षेप में देकर आगे बढ़ेंगे।

खोपड़ी

सर्वप्रथम भाग खोपड़ी ही है। इसके मज़बूत प्रकोष्ठ में शरीर का सर्वोत्कृष्ट अंग मस्तिष्क है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है यह भाग बहुत-सी हड्डियों तथा नर्म चबनी (Cartilage) से मिलकर बना है। खोपड़ी से ही मिली हुई कानों की हड्डियाँ, आँखों के गड्ढे और नाक के छेद हैं। नाक के भीतरी छेद और मुँह के बीच में तालू की हड्डी है। हमारे जबड़े भी, जिनमें दाँत लगे हुए हैं, खोपड़ी से ही मिले हुए हैं। ऊपर का जबड़ा तो खोपड़ी से बिलकुल जुटा रहता है, परन्तु नीचे के जबड़े की हड्डी खोपड़ी से अलग होती है—केवल आँखों के पीछे चूल पर वह खोपड़ी से लगी रहती है। इसमें चूल होने के ही कारण हम नीचे के जबड़े को नीचे-ऊपर उठाकर अपना मुँह खोल और बन्द कर सकते हैं। ऊपरी जबड़े की हड्डियाँ उतनी मज़बूत नहीं होतीं, जितनी कि नीचे के जबड़े की। दोनों ही में सोलह-सोलह दाँतों के लिए गड्ढे होते हैं। चेहरे की सबसे बड़ी और मज़-बूत हड्डी नीचे का जबड़ा ही है, जो न केवल ऊपर-नीचे ही को हिलती और चलती है, वरन् दाहिने-बाएँ भी घूम लेती है। इसी से हम भोजन अच्छी तरह चबा सकते हैं।
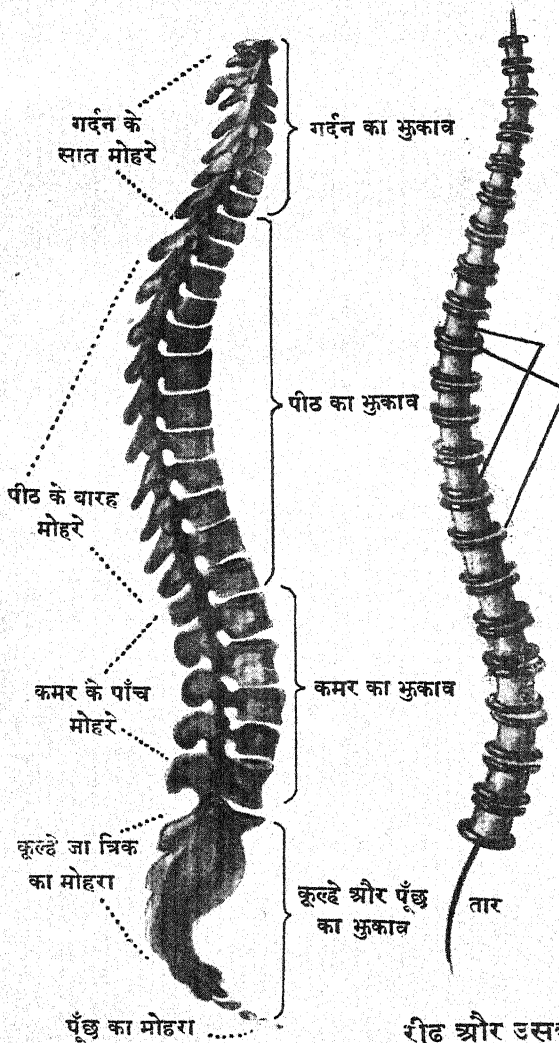
रीढ़ और उसकी रचना

(बाईं ओर) रीढ़ और उसके मोहरे; (बीच में) रीलों में रस्सी पिरोकर बनाया गया रीढ़ का नमूना; (दाहिनी ओर) बच्चे में बैठना सीखते समय रीढ़ किस प्रकार गर्दन के पास मुड़ जाती और खड़ा होना सीख लेने पर कमर के मोहरों में भी झुकाव आ जाता है।

पूरी खोपड़ी वास्तव में दो हिस्सों में रची गई है—एक सिर या चाँद, जिसके अन्दर मस्तिष्क बन्द रहता है; और दूसरा चेहरे का भाग, जिसमें विशेषतया जबड़े सम्मिलित हैं। शरीर के सभी अवयवों से मस्तिष्क अधिक तेज़ी से बढ़ता है। चाँद की हड्डियों की बाढ़ उससे पिछड़ जाती है। यही कारण है कि जन्म के समय ऊपर का मस्तिष्क हड्डी से ढँका हुआ नहीं होता और लगभग एक वर्ष तक तालू के ऊपर बालक के सिर में गड्ढा-सा बना रहता है।

खोपड़ी की हड्डियाँ जिस जगह एक-दूसरे से मिलती हैं, वहाँ टेढ़ी-मेढ़ी नोकें-सी निकली रहती हैं, जो आपस में एक-दूसरे से फँसी रहती हैं। ऐसा लगता है, मानों उस जगह सिलाई की गई हो। युवावस्था और बचपन में यह सीवन कुछ ढीली रहती है, लेकिन प्रौढ़ावस्था में वह बिलकुल सट जाती है। इतना ही नहीं, बल्कि छोटे बच्चों की खोपड़ियों की हड्डियाँ एक-दूसरे के ऊपर भी सरक सकती हैं। यदि ऐसा न होता तो बच्चों के जन्म के समय माताओं को अत्यन्त कष्ट होता। उत्पन्न होते समय सिर पर दबाव पड़ने से हड्डियों के किनारे एक-दूसरे पर चढ़ जाते हैं और पैदा होने के बाद इन हड्डियों के फिर ज्यों-की-त्यों होने में कई दिन लग जाते हैं।

धड़ की हड्डियाँ

आइए, अब धड़ की हड्डियों का दिग्दर्शन करें। इन हड्डियों में रीढ़ और छाती की हड्डियाँ भी शामिल हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, रीढ़ में २६ हड्डियाँ मानी जाती हैं और सीने में २५। रीढ़ शरीर का आधार है। वह एक तरह का स्तम्भ है, जिस पर अस्थिपंजर के दूसरे सारे भाग सधे रहते हैं। यही वह मुख्य हड्डी है, जिसके आधार पर सारा शरीर रचा गया है। इसीलिए इसको हड्डियों की ठटरी को बाँधने या कसनेवाली कड़ी या धरणी भी कहा गया है। वह पीठ के बीचोबीच गर्दन से लेकर पीठ के नीचे तक चली गई है।

इसके ऊपर खोपड़ी का पेंदा सधा रहता है और उसी से पसलियाँ और कूल्हे की हड्डी लगी रहती है। वह कूल्हे की हड्डियों को ही नहीं बल्कि पेट के बहुत-से अंगों को भी साधे रहती है और सुषुम्ना नाड़ी की रक्षा करती है। अगर सारी रीढ़ में एक ही हड्डी होती तो वह लोहे की छड़ की तरह कड़ी और बेलोच होती। इसीलिए वह २६ (३३) अलग-अलग टुकड़ों—मोहरों या कशेरुकाओं—की बनी हुई है। प्रति
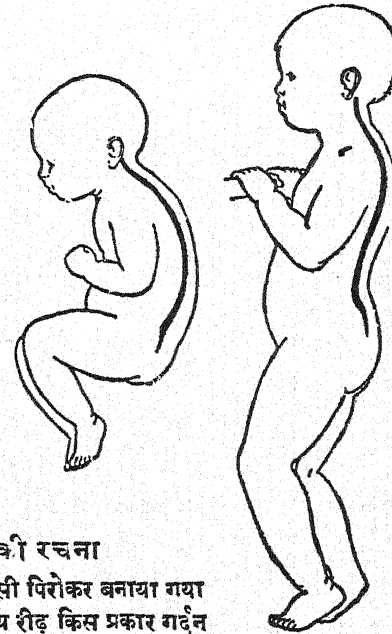
दो मोहरों के बीच में एक नर्म गद्दी-सी रहती है, जिसके कारण प्रत्येक मोहरा एक-दूसरे पर थोड़ा-सा झुक और सरक सकता है। इससे कुल हड्डी इच्छानुसार झुकाई और मोड़ी जा सकती है। हर एक कशेरुका दूसरी कशेरुका से इस प्रकार फँसी हुई है और ऐसे चीमड़ बन्धन से बँधी रहती है कि लचकदार होते हुए भी वह टूटकर अलग नहीं हो सकती। रीढ़ की हड्डी की रचना की यही तो ख़ूबसूरती है कि वह काफ़ी मज़बूत भी है और लचकदार भी।

रीढ़ का स्तम्भ पाँच भागों में बाँटा जा सकता है। इसके सबसे ऊपरी या गर्दनवाले भाग में मोहरे हैं। सीने के पीछे-वाले भाग में १२ और कमर के हिस्से में ५ मोहरे होते हैं। कूल्हे के भाग में पाँच मोहरों की एक संयुक्त हड्डी होती है तथा दुम में चार छोटे-छोटे मोहरों से बनी हुई एक संयुक्त हड्डी रहती है। रीढ़ के स्तम्भ के चित्र को देखने से साफ़ पता चलता है कि इसकी हड्डियाँ एक ऐसा खम्भा-सा बनाती हैं, जो कूल्हे की संयुक्त हड्डी—जिसकी शक्ल पच्चड़ की तरह है—पर टिका हुआ है। इस हड्डी के दोनों ओर कूल्हेवाली बड़ी हड्डियाँ जुड़ी हुई हैं और ये दोनों टाँगों के ऊपर सधी रहती हैं। अचम्भे की बात तो यह है कि सारे शरीर को साधे रहनेवाला यह जोड़दार स्तम्भ बिल्कुल सीधा नहीं रहता। पृ० १३६५ पर दिए गए चित्र के देखने से वह स्पष्टतया कई जगह पर झुका हुआ दीख पड़ता है। इसका कोई हिस्सा आगे को निकला हुआ तो कोई पीछे को धँसा हुआ दिखलाई पड़ता है। गर्दन और कमरवाले भाग पीठ की ओर उभरे हुए हैं और सीने, कूल्हे तथा दुम का हिस्सा पीछे की ओर को धँसा हुआ है। गर्दन और कमर का टेढ़ापन बच्चा पैदा होने के समय नहीं होता। जब बच्चा बैठने लगता है तो गर्दन के मोहरों में झुकाव आ जाता है और ज्योंही वह पैरों पर चलना सीख जाता है, कमर के मोहरों में भी झुकाव आ जाता है। (दे० पृ०१३६५ का चित्र)।
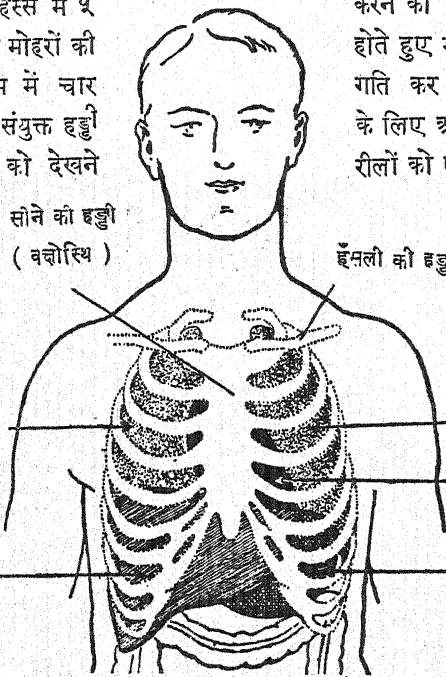
सीने की हड्डियों का पिंजरा और उनमें सुरक्षित अवयव

धारणा की जाती है कि कमर और कूल्हे के मोहरों में झुकाव होने की वजह से पेट के भीतर के अंगों को सहारा मिलता है, अन्यथा वे रीढ़ से सीधे ही लटकते रहते। वास्तव में देखा गया है कि जिन कमज़ोर औरतों में यह झुकाव कम होता है और पीठ सीधी हो जाती है उनके पेट के भीतर के भाग साधारण स्त्रियों की अपेक्षा नीचे को अधिक लटक आते हैं। मोहरों के बीच जो नर्म गद्दियाँ होती हैं उन्हीं की लचक से कूदते-फाँदते या दौड़ते समय हमें बहुत धमक नहीं लगती। यह सही है कि दो गुरियों के बीच में गति करने को थोड़ी ही गुंजायश है, लेकिन ऐसा होते हुए भी रीढ़ काफ़ी दूर तक इधर-उधर गति कर लेती है। इसे भली भाँति समझने के लिए आप डोरा लपेटनेवाली कुछ ख़ाली रीलों को एक मोटे तार में पिरो लीजिए और हर-एक रील के बीच में एक-एक टुकड़ा काग या मोटे पट्ठे का लगाते जाइए। अब आप देखेंगे कि तार को हिलाने से कैसे रीढ़ की हड्डी भिन्न-भिन्न दिशाओं में झुकाई जा सकती है (दे० पृ० १३६५ का चित्र)। हमारे रचयिता ने हमारे संग बड़ी ही भलाई की जो रीढ़ की हड्डी को ऐसी बनाई, अन्यथा हमारे लिए दौड़ना या कूदना आदि कार्य बड़े कठिन हो जाते। चलने में शरीर बारी-बारी हरएक टाँग पर सधता है जिससे वह अगल-बगल थोड़ा झुक जाता है, ताकि बोझ पूरी टाँग पर ही पड़े और शरीर एक ओर ढुलक न जाय।

पसलियाँ

हमारे शरीर में दोनों तरफ़ १२-१२ पसलियाँ हैं, जो पीछे रीढ़ के १२ मोहरों के बीच-बीच में जुड़ी हुई हैं और आगे की ओर छाती की हड्डी से जुड़ी हुई हैं। पसलियाँ पीठ से नीचे की ओर गिरती हुई सामने की ओर सीने की हड्डी तक मुड़ी रहती हैं। पसलियों के पहले सात जोड़े एक-एक चबनी (Cartilage) द्वारा सीने की हड्डी से जुड़े हुए हैं। इसलिए

उन्हें असली पसलियाँ कहा गया है। आठवें, नवें और दसवें जोड़े अपने से हरएक ऊपरवाली चवनी से जुड़े हैं जिससे कि वे एक दूसरे से मिलकर सीने की हड्डी तक पहुँच पाते हैं। पीछे के दो जोड़े सीने की हड्डी से बिल्कुल ही अलग हैं (देखिये पृ० १३६० के चित्र में ठठरी का पार्श्व का दृश्य)। इन पिछले पाँचों जोड़ों को नकली हड्डियाँ कहा जाता है और अन्तिम दोनों स्वतन्त्र हड्डियाँ कही जाती हैं। टेढ़ी पसलियाँ, सीने की हड्डी और रीढ़ का स्तम्भ मिलकर एक घेरा-सा बना लेते हैं, जिसको हम 'सीने का पिंजरा' कहते हैं। इसी के अन्दर हृदय, फेफड़े, यकृत तथा अन्य आवश्यक अवयव सुरक्षित रहते हैं। इनकी रक्षा करने के अलावा पसलियाँ हमारी श्वासोच्छ्वास क्रिया में भी सहायता करती हैं। सीने को पेट से पृथक् करनेवाला वक्षोदर मध्यस्थ परदा (Diaphragm) नीचे की ६ पसलियों और रीढ़ तथा सीने की हड्डी से जुड़ा हुआ है, जो अपनी पेशियों के संकोच से पसलियों को भीतर की ओर खींचता है, जिससे फेफड़ों पर दबाव पड़ता है और साँस बाहर निकल जाती है। जब फिर वक्षोदर मध्यस्थ परदे की पेशियाँ ढीली पड़ती हैं और पसलियों के ऊपर लगी हुई बीच की पेशियाँ सिकुड़ती हैं, तब पसलियाँ फिर ऊपर को उठ जाती हैं, जिससे फेफड़े फूल जाते हैं और साँस भीतर चली जाती है। इससे पता चलता है कि पसलियों में भी काफ़ी लचक है, जो उन्हें ज़ोर पड़ने पर लचा देती है, किन्तु टूटने नहीं देती। इनका यही लचीलापन भीतरी अंगों की रक्षा का कारण है।

हाथ-पैरों की हड्डियाँ

साधारण मनुष्य भी अन्य अंगों की हड्डियों की अपेक्षा इन हड्डियों से अधिक परिचित हैं। इसलिए इनका विस्तृत वर्णन करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। ऊपर और नीचे के अवयवों में वे हड्डियाँ भी सम्मिलित हैं, जिनसे भुजाएँ और टाँगों की हड्डियाँ रीढ़ की हड्डी से जुड़ी रहती हैं। इनमें हर अवयव में तीन भाग हैं—बाँह में पिछली बाँह, अगली बाँह और हाथ; तथा टाँग में जाँघ, पिंडली और पैर। जिन हड्डियों के द्वारा बाँह धड़ की हड्डियों से जुड़ी रहती है, उन्हें कंधे की पेटी कहा जाता है, और जिन हड्डियों के द्वारा टाँग धड़ से जुड़ती है, वे कूल्हे की पेटी कहलाती हैं। प्रत्येक बाँह में जो हड्डियों के हिस्से हैं, वे पृ० १३६० पर दिये हुए चित्र में दिखलाये गये हैं। उसी चित्र को देखकर उनकी शक्ल-सूरत का भी ज्ञान आपको हो सकता है। हर एक भुजा में कुल ३२ हड्डियाँ हैं, जो इस प्रकार बँटी हुई हैं:—हँसली १; खवा १; ऊपरी बाँह में १; नीचे की बाँह में २; कलाई में ८; हथेली में ५; उँगलियों में १४। कलाई की ८ छोटी-छोटी हड्डियों के दो पंक्तियों में सजी होने और बँधनों से जुड़ी रहने के कारण ही कलाई में लचीलापन और इधर-उधर अच्छी तरह घूमने की शक्ति है। हथेली की हड्डियाँ उँगली की हड्डियों की-सी ही हैं। इस बात का अन्दाज़ा हम स्वयं अपने हाथ को टटोलकर कर सकते हैं (दे० इसी पृष्ठ का चित्र)। नीचे के अवयवों की रचना ऊपर के अवयवों के तरह की ही है, जैसा कि अगले पृष्ठ के चित्र से विदित होता है। हाँ, ऊपर के अवयवों से नीचे के अवयवों में केवल इतनी ही भिन्नता है कि प्रत्येक टाँग में कुल मिलाकर ३२ की जगह ३१ ही हड्डियाँ होती हैं; क्योंकि टख़ने में कलाई से १ हड्डी कम पाई जाती है। इस अवयव में हड्डियों का विभाजन इस प्रकार हुआ है:—

कूल्हे में १; जाँघ में १; घुटने में १; पिंडली में २; टख़ने में ७; पैर में ५; और उँगलियों में १४।

अगली बाँह, हथेली और उँगलियों की हड्डियाँ
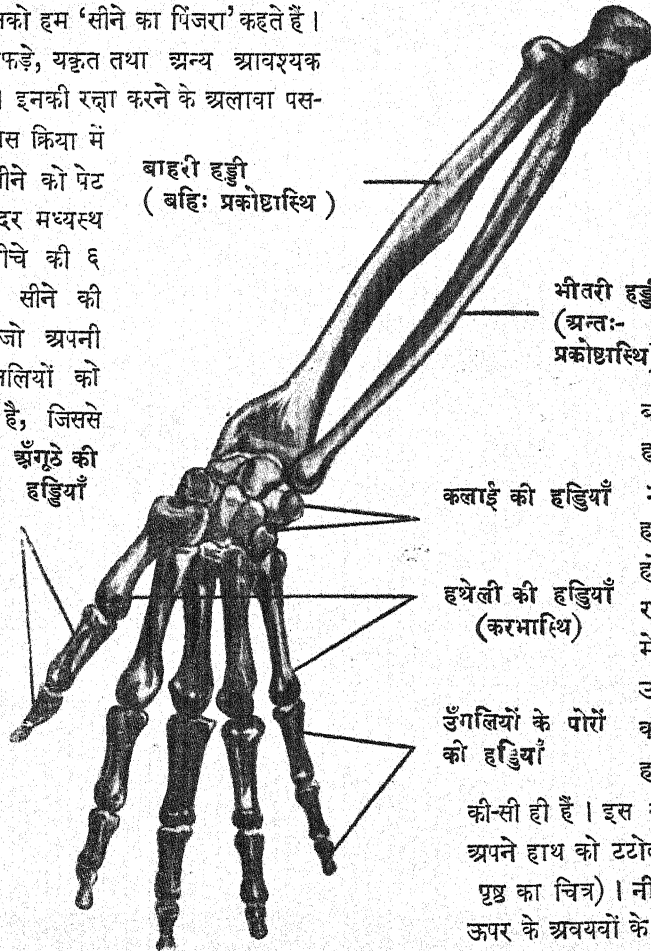
हड्डियों के जोड़

जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे आपको मालूम हो गया होगा कि हड्डियों के ढाँचे में जगह-जगह पर जोड़ हैं। उनके बिना हम न हाथ-पैर ही हिला सकते और न उठ-बैठ या चल-फिर ही सकते हैं। कुछ हड्डियाँ एक दूसरे से ऐसी मज़बूती से सटी होती हैं कि उनके बीच के जोड़ का पता लगाना मुश्किल हो जाता है। इस प्रकार के जोड़ वयस्क मनुष्य की खोपड़ी की हड्डी में मिलते हैं। इन्हें 'अचल सन्धि' या पक्के जोड़ कहकर पुकारते हैं। एक और प्रकार के जोड़ वे हैं, जो कुहनी, घुटने या जिस जगह बाँह खवे से मिलती है वहाँ पाये जाते हैं। ये हिलने-घूमने-वाले जोड़ या 'चल-सन्धि' कहलाते हैं। सब हिलने-डुलनेवाले जोड़ एक से नहीं हैं। वे कई प्रकार के हैं:—

चूलदार जोड़

ऊपरी बाँह की हड्डी (प्रगण्डास्थि)

सौत्रिक बंधन

बहिः प्रकोष्ठास्थि

अन्तः प्रकोष्ठास्थि

जोड़

पिंडली की मोटी हड्डी

पिंडली की पतली हड्डी

(ऊपर बाईं ओर) **बाँह और खवे का जोड़। पसलियों की हड्डियाँ भी दिखाई दे रही हैं।** (ऊपर दाहिनी ओर) **कुहनी का चूलदार जोड़।** (नीचे दाहिनी ओर) **घुटने और पैर के जोड़।**

(१) **घूमनेवाले जोड़**—शरीर में दो जोड़ इस प्रकार के हैं, जो घूमते हैं। एक तो रीढ़ के पहले और दूसरे मोहरे में मिलता है। दूसरे मोहरे से आगे की ओर एक मोटी नोक-सी निकली रहती है, जिसके चारों ओर पहले मोहरे का गड्ढा या छल्ला घूमता है। यही कारण है कि हम सिर को इधर-उधर घुमा सकते हैं। जो रेशेदार फ़ीता पहले मोहरे के गड्ढे से मिलकर इस छल्ले को बनाता है वह अगर टूट जाय तो सुषुम्ना नाड़ी कुचल जाय और हम फ़ौरन् ही अपनी जान खो बैठें! इस जोड़ को कीलदार जोड़ कहते हैं। ऐसा ही दूसरा जोड़ कुहनी पर है, जिसके द्वारा कलाई मोड़ने के समय आगे की बाँह भी इधर-उधर घूम जाती है।

(२) **फिसलनेवाले जोड़**—इस प्रकार के जोड़ हमको रीढ़ के मोहरों के बीच-बीच में तथा कलाई की हड्डियों में मिलते हैं। दो हड्डियों के बीच चदनी की गद्दी रहती है। हड्डियाँ सफ़ेद सौत्रिक बँधनों या फ़ीतों से बँधी रहती हैं। गद्दी बीच में रहने के कारण हड्डियाँ एक दूसरे पर फिसल सकती हैं, परन्तु बंधन सुतली का काम देते हैं और हड्डियों को ज़रूरत से ज़्यादा फिसलने नहीं देते।

(३) **गेंद-गड्ढेवाला जोड़**—इसके सबसे अच्छे उदाहरण कंधे और कूल्हे हैं। इस जोड़ पर एक लम्बी हड्डी का गेंद जैसा गोल सिरा दूसरी हड्डी के गड्ढे में टिका रहता है। गड्ढे में नर्म चर्बी रहती है और गेंद के ऊपर नर्म चदनी रहती है। इस जोड़ में एक प्रकार का तेल-सा द्रव्य निकलता रहता है; ताकि वह जल्दी ही घिस न जाय और उस पर रगड़ अधिक न पड़े। इस जोड़ की हड्डियाँ अच्छी तरह और हर तरफ़ घुमाई जा सकती हैं।

(४) **चूलदार जोड़**—इस प्रकार का जोड़ कुहनी, टख़ने और नीचे के जबड़े में है। उँगलियों में भी ऐसा ही जोड़ रहता है। इस जोड़ में हड्डियों के जोड़ ऐसे टेढ़े और खाँचेदार होते हैं कि एक दूसरे में अच्छी तरह भिड़ जाते हैं। दोनों हड्डियाँ जोड़ के चारों ओर मज़बूत बंधनों से जकड़ी रहती हैं, जिससे हड्डियाँ एक ही तरफ़ गति कर सकती हैं, जैसे किवाड़ कब्ज़ों पर घूमता है। ये आगे-पीछे तो मुड़ सकते हैं, किन्तु दायें-बायें नहीं।

मुद्रा और विदेशी विनिमय का विकास

व्यापार के विस्तार के सम्बन्ध में यह बतलाया जा चुका है कि एक पदार्थ के बदले में दूसरा पदार्थ देने या विनिमय करने के ढंग पर होनेवाले व्यापार का विस्तार अत्यन्त सीमित रहता है। यही नहीं वरन् कितने ही अवसर पर ऐसा व्यापार स्थगित ही हो जाता है। पदार्थों के अदल-बदल या विनिमय का ढंग तब ही चल सकता है जब प्रत्येक बेचनेवाले के लिए ठीक उसकी आवश्यकता के पदार्थ उतनी ही मात्रा में सुगमता से मिल सकें। यह कभी-कभी एक ग्राम में तो सम्भव भी हो सकता है, और सो भी केवल प्रत्येक दिवस की साधारण वस्तुओं की बिक्री में; परंतु आज जैसे विस्तृत व्यापार में, जिसमें असंख्य मनुष्य अगणित तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थों की बिक्री तथा ख़रीद करते हैं, पदार्थों की बदली या विनिमय के ढंग का प्रचलित होना असम्भव है। इसी दिक़्क़त को मिटाने के लिए यह आवश्यक हुआ कि किसी एक वस्तु को सर्वमान्य समझा जाय और फिर प्रत्येक पदार्थ का मूल्य उसी सर्वमान्य वस्तु के अंश में निर्धारित किया जाय। इस प्रकार पदार्थों की बिक्री-ख़रीद बहुत सुगम हो गई है। इस पद्धति में सब व्यापारी सर्वमान्य वस्तु के बदले में अपनी-अपनी व्यापार की सामग्री देने को प्रस्तुत रहते हैं। इस प्रकार व्यापार का विस्तार बहुत बढ़ा। दूसरा लाभ यह हुआ कि प्रत्येक पदार्थ का मूल्य सर्वमान्य वस्तु में आँका जाने से उधार बेचने की प्रथा की भी नींव पड़ सकी। पहले यदि कोई व्यापारी अपना माल उधार बेचता तो उसका मूल्य कुछ दिन बाद लेने के लिए कोई निश्चित वस्तु नहीं मिलती थी जिसके आधार पर मूल्य आँककर चुकाया जाता। सम्भव था कि निश्चित पदार्थ निर्धारित समय के बाद मिल ही न पाता। किंतु सर्वमान्य वस्तु के निश्चय होने से इसका भय जाता रहा और आज बेचे हुए पदार्थ का मूल्य कितने ही दिन के बाद भी उतना ही लिया जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि आज कपड़े का व्यापारी ५०) का कपड़ा उधार दे तो ५०) की यह रक़म कभी भी ली जा सकती है, क्योंकि बाज़ार में रुपया मिलना दुर्लभ नहीं होगा। तीसरी बात यह है कि अब मनुष्य सर्वमान्य वस्तु को एकत्रित करके संचय भी कर सकते हैं और इस प्रकार धनी बन सकते हैं। इसी प्रकार एक मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य को धन (सर्वमान्य वस्तु) दे भी सकता है, जिसके द्वारा वह चाहे जब आवश्यक पदार्थ मोल ले सकता है।

प्रोफ़ेसर हिल्देब्रान्द ने तो यहाँ तक कह डाला है कि पदार्थ-बदली द्वारा विनिमय का ढंग, सर्वमान्य वस्तु द्वारा विनिमय-ढंग, तथा उधार विनिमय-ढंग, ये मनुष्य की सभ्यता की तीन श्रेणियाँ हैं। यह अवश्य है कि यह तीन प्रकार का व्यापार का ढंग मनुष्य-सभ्यता को बढ़ाने तथा मनुष्य-जीवन को सुगम तथा सुखी बनाने में बहुत अंश तक सफल हुआ है, परन्तु इतिहासज्ञ इस प्रकार के कालविभाजन को पूर्ण रूप से निश्चित नहीं मानते। आज भी मिश्रित विनिमय-ढंग कहीं-कहीं पाया जाता है।

इस "सर्वमान्य वस्तु" के निश्चित होने का इतिहास भी बड़ा रुचिकर है। आखेट के काल में (जिसे मनुष्य की सभ्यता तथा आर्थिक व ऐतिहासिक जीवन का प्रारम्भ-काल कहते हैं) पशुओं की खाल और समूर (furs) विनिमय के लिए सर्वमान्य माध्यम माने गए।

इसके बाद के समय में, जिसे 'चरवाहों का काल' कहते हैं, खाल और समूर की जगह, जीवित पशु और बन्दी अथवा दासगण विनिमय के पदार्थ बनाए गए। ध्यान देने की बात यह है कि दोनों समय में सुगमता से प्राप्त तथा अधिकांश के लिए लभ्य पदार्थ ही विनिमय-पात्र समझे गए। उत्तरी अमेरिका के आदिमवासी, जिन्हें 'रेड इंडियन' के नाम से सम्बोधित करते हैं, अपने पहिनने के आभूषण इत्यादि को, जिनमें मूँगा विशेष था, विनिमय के कार्य में लाते थे। एशिया महाद्वीप में कौड़ी ने विनिमय के माध्यम का स्थान ग्रहण किया। भिन्न-भिन्न काल तथा स्थानों में गल्ला, तेल, तम्बाकू, सूखी मछली, नमक, चाय, कपड़ा और चटाई इत्यादि

विविध विनिमय के माध्यम बनाए गए हैं। विनिमय का माध्यम बनने के लिए सर्वमान्य होने के अतिरिक्त यह भी आवश्यक प्रतीत हुआ कि माध्यम की वस्तु ऐसी होनी चाहिए जो सुगमता से एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाई जा सके, उसकी गणना की जा सके, उसे पहचानने में संदेह न हो और वह शीघ्र नष्ट न हो। इन बातों को ध्यान में रखते हुए और व्यावहारिक अनुभव के आधार पर अन्त में सोना तथा चाँदी ही संसार के लगभग सभी देशों में सर्वमान्य विनिमय के माध्यम मान लिये गये और यह गौरव इन्हें आज तक प्राप्त है।

दूसरा प्रश्न अब यह हुआ कि बहुमूल्य धातु-पदार्थों को साधारण विनिमय के लिए छोटे-छोटे अंशों में किस प्रकार विभाजित किया जाय। इस आवश्यकता ने मुद्रा-निर्माण को जन्म दिया। मूल्यवान् धातुओं के छोटे-छोटे समान मात्रा के सिक्के बनाये गए। आज भी हम संसार में इस प्रकार के सिक्कों का चलन पाते हैं। इँगलैंड में सावरन या पौंड, शिलिङ्ग, और पेन्स; अमेरिका में डालर, और सेन्टस्; जर्मनी में मार्क; फ्रांस में फ्रैंक; इटली में लिरा; जापान और चीन में येन, और भारतवर्ष में रुपया, अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी, आना, पैसा, पाई आदि सिक्के प्रचलित हैं। प्रत्येक देश में भिन्न-भिन्न सिक्कों का एक दूसरे के प्रति निश्चित दर है, जैसे एक रुपये की दो अठन्नी, चार चवन्नी, आठ दुअन्नी, सोलह इकन्नी, चौंसठ पैसे और एक सौ बानवे पाई होती हैं। इस युक्ति से छोटे-से-छोटे या बड़े-से-बड़े मूल्य तथा मिश्रित मूल्य के पदार्थ का दाम दिया जा सकता है। सभी मनुष्य अपने-अपने सिक्के न चला दें या उनके धातुभार के अन्तर से स्वयं लाभ न उठाने लगें, इस भय से यह निश्चय हुआ कि सिक्का बनाने का कार्य केवल देश की शासन-सत्ता ही करे। अन्य किसी को इसकी आज्ञा न हो। बल्कि नक़ली सिक्के बनानेवालों को कठोर दण्ड भी दिया जाय। इस प्रकार सिक्कों में समानता उत्पन्न की जा सकी जिससे उन्हें कोई भी मनुष्य निश्शंक भाव से स्वीकार करने के लिए राष्ट्र द्वारा बाध्य किया जा सकता था।

एक प्रश्न और सामने आया। वह यह था कि बहुत-से देशों में कई धातु एक साथ सर्वमान्य मानी गईं। इनमें सोना तथा चाँदी कहीं-कहीं साथ-साथ विनिमय का कार्य करते हैं। इन देशों में दोनों धातुओं के सिक्के एक निश्चित दर पर साथ-साथ व्यवहार में लाये जाते हैं। उदाहरण के लिए कुछ वर्ष पहले भारतवर्ष में गिन्नी और रुपया साथ-साथ चलते थे। इनका दर राष्ट्र की ओर से १५) रुपया एक गिन्नी के बराबर निश्चित था। उन देशों में जहाँ दो धातुओं के सिक्के अगणित मात्रा में राष्ट्र द्वारा चलाये जाते हैं, एक समस्या आ खड़ी होती है। पहले कहा जा चुका है कि भिन्न-भिन्न सिक्कों का मूल्य एक निश्चित दर के अनुसार होता है। कभी-कभी सिक्कों के पारस्परिक मूल्य और धातुओं के पारस्परिक मूल्य में भेद होने से अधिक मूल्यवाली धातु के सिक्के गलाकर धातु के रूप में बेचे जाते हैं और अल्पमूल्यवाली धातु के सिक्के ही केवल चलन में रह जाते हैं। यदि सिक्के बनाने में कोई विशेष रोक न हुई, अर्थात् जो चाहे धातु देकर उसके मूल्य भर दूसरी अथवा उसी धातु के सिक्के बनवा सकता हो तो बहुधा मनुष्य सस्ती धातु मोल लेकर उसके सिक्के बनवा लेते हैं। यह भी कह सकते हैं कि ऐसी अवस्था में मनुष्य सिक्के का व्यापार करने लगते हैं और इस प्रकार दो धातुओं के सिक्के का चलन व्यावहारिक रूप से बन्द हो जाता है। दो धातु के सिक्कों का इस प्रकार साथ-साथ चलना द्विधातु-प्रथा (Bimetallism) कहलाती है। इस संकट से बचने के लिए संसार के लगभग सभी देश आजकल केवल एक धातु के सिक्के ही प्रधान रूप से चलाते हैं। कहीं केवल सोने के सिक्के हैं तो कहीं चाँदी के। यह अवश्य होता है कि छोटे सिक्के चाँदी अथवा मिश्रित सस्ती धातुओं के बना दिये जाते हैं और वे केवल सीमित मात्रा तक ही प्रयोग में लाये जा सकते हैं। अब केवल देशान्तरों में सिक्कों के अदल-बदल की बात रही। प्रत्येक देश के सिक्कों का भार तथा मूल्य भिन्न होता है। यदि समान धातु के सिक्के हुए, जैसे डालर, फ्रैंक तथा पाउंड अथवा रुपया और येन, तब तो उनकी बदली में विशेष आपत्ति नहीं होती, क्योंकि उनका दर उनके धातुमूल्य के अनुसार निश्चित हो जाता है। कारण यह है कि उन सिक्कों को चाहे सिक्कों के रूप में बदला जाय चाहे धातु के रूप में, इससे बदलनेवालों को अधिक या कम मूल्य तो मिल ही नहीं सकता। इसी तरह अन्य धातु के सिक्के भी धातुमूल्य के दर से बदले जा सकते हैं। जैसे डालर में सोने का मूल्य येन के चाँदी के मूल्य के पारस्परिक दर से बदला जा सकता है। इनमें मुख्य बात यह है कि सिक्का चाहे किसी धातु का भी हो, परन्तु उसका धातुमूल्य उसके मौद्रिक मूल्य के बराबर होना चाहिए। ऐसी अवस्था में सिक्के बदलना सरल होता है। परन्तु यदि सिक्के का मूल्य सिक्के के धातुमूल्य से अधिक हुआ, जैसे भारतवर्ष के रुपए में, तब बदली करने में थोड़ी दिक़्क़त होती है। ऐसी अवस्था में सिक्के को गलाने में हानि होती है। दूसरे देशवाले केवल धातु का ही मूल्य देंगे। उदाहरण के लिए

भारतवर्ष के रुपये में चाँदी का मूल्य ।|=) भर है, इसलिए दूसरे देशवाले उसे केवल ।|=) के धातुरूप में मोल ले सकते हैं। परन्तु भारतवासियों को १) केवल सोलह आने के दर से ही मिल सकता है, इसलिए प्रति रुपया धातुरूप से ।=) छः आना हानि होती है। ऐसी अवस्था में सिक्के का दर राष्ट्र द्वारा किसी पूर्ण धातुमूल्य वाले सिक्के के दर से निश्चित कर दिया जाता है और अन्य देशवाले पूर्ण धातुमूल्य वाले सिक्के के हिसाब से अपना व्यौरा चुकाते हैं। भारतवर्ष के रुपये का मूल्य अँगरेज़ी पाउंड के दर में एक शिलिङ्ग और छः पेन्स निश्चित है। इसमें हानि यह है कि भारतवासी अन्य देशों से सीधा व्यापार नहीं कर सकते। जब तक भारतवर्ष का रुपया पाउंड से बँधा था तब तक तो कुछ सुविधा भी थी कि उसका पूर्ण मूल्य अन्य सिक्कों में निश्चित हो सकता था, परन्तु सन् १९३१ से, जब से रुपया स्टर्लिङ्ग (Sterling) से सम्बद्ध है, यह सुविधा भी जाती रही। स्वयं स्टर्लिङ्ग का मूल्य निश्चित नहीं है अतएव रुपये का मूल्य और भी अस्थिर हो गया है।

धातुमूल्य निश्चित होने पर भी एक कठिनाई रह जाती है, और वह है मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजने तथा एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के पास ले जाने की। साधारणतया मनुष्य मुद्रा देकर इस कार्य को पूरा करते हैं। यह कार्य थोड़ी रक़म तक तो हो सकता है, परन्तु यदि हज़ारों-लाखों रुपये लेने-देने हों तो उनका भार इतना होगा कि शायद मनुष्य उठा ही न सके। भारतवर्ष के रुपये का भार एक तोला होता है। यदि ८००० रुपया देना हो तो उनका भार १०० सेर अथवा २॥ मन होगा। वास्तव में व्यापार में इससे कहीं अधिक रुपए का लेन-देन होता है। इसलिए बड़े व्यापार का व्यौरा नक़द रुपये से चुकाना बड़ा कठिन होगा। दूसरी बात यह है कि रुपया ले जाने और लाने में चोरों और डाकुओं का भी भय है। भाड़े का ख़र्च भी अधिक होगा। इन संकटों से बचने के लिए यह युक्ति सोची गई कि रुपये की जगह काग़ज़ से काम लिया जाय। काग़ज़ के बदले रुपया मिल जायगा इसका विश्वास दिलाने के लिए विश्वस्त स्थान में रुपया रखने की प्रथा शुरू हुई और विश्वस्त मनुष्य की लिखी हुई चिट्ठी तथा वचन पर कार्य चलने लगा। इस चिट्ठी को 'हुण्डी' के नाम से पुकारने लगे। आज भी भारतवर्ष के व्यापारी हुण्डी द्वारा लाखों रुपए का लेन-देन चुकाते हैं। इस प्रथा को जन-साधारण में प्रचलित करने के लिए कई संस्थाएँ स्थापित की गईं, जिन्हें आज 'बैंक' के नाम से पुकारते हैं। बैंक के नोट, जिनके द्वारा बैंक इस बात का वचन देता है कि नोट पानेवाला मनुष्य लिखा हुआ रुपया बैंक से ले सकता है, रुपया भेजने का काम करते हैं और धातुमुद्रा ले जाने संबंधी कष्ट और संकट का निवारण करते हैं। हुण्डी का स्थान अब इन बैंकों में जमा किए गए द्रव्य के नाम पर लिखी हुई चिट्ठी ने, जिसे चेक कहते हैं, ले लिया। बैंक एक से अधिक साख रख सकता है, परन्तु उसका विश्वास सबको नहीं हो सकता। दूसरे यह भी सम्भव है कि बैंक हर स्थान में अपनी शाखा न बना सकें और ऐसी अवस्था में शाखारहित स्थानों में रुपया लेना दुष्कर होगा। इन कष्टों को दूर करने के लिए राष्ट्र ने स्वयं नोट छापने का कार्य ग्रहण किया, जिनके आधार पर नोट ले जानेवाला व्यक्ति सरकारी ख़ज़ाने से लिखा हुआ रुपया पा सकता है। इस प्रकार धातु का स्थान काग़ज़ ने ले लिया और आज संसार के सभी सभ्य देशों में बहुतांश काग़ज़ द्वारा ही विनिमय का कार्य पूर्ण होता है। यही दशा अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की भी है। काग़ज़ के बिल द्वारा बड़े-बड़े व्यापार का व्यौरा चुकाया जाता है। बैंक की शाखाएँ इस व्यौरा चुकाने के कार्य को पूरा करती हैं। यदि हमें ५०००) रु० इङ्गलैंड भेजना है, तो आजकल रुपया अथवा सोना न भेजकर हम अपने देश में किसी इङ्गलैंड की कम्पनी का बिल ख़रीद लेंगे। उसका रुपया बिल बेचनेवाले को बैंक चेक द्वारा दे सकते हैं। इस प्रकार प्राप्त किये हुए बिल को हम उस मनुष्य को इङ्गलैंड में डाक द्वारा भेज देंगे और वह उस बिल के वास्तविक देनेवाले से रुपया अपने ही देश में ले लेगा। बिल बेचने और ख़रीदने के इस काम को आजकल या तो बैंक या एक प्रकार के दलाल, जिन्हें बिल-ब्रोकर (Bill broker) कहते हैं, किया करते हैं। जहाँ यह कार्य होता है उसे 'बिल मार्केट' (Bill Market) या 'एक्सचैंज' (Exchange) के नाम से पुकारते हैं। रुपया-बदली तथा अन्य देश के सिक्कों के मोल लेने और बेचने के भी बाज़ार है, जिन्हें विदेशी मुद्रा विनिमय सस्था (Foreign Exchanges) के नाम से पुकारते है। संसार के समस्त व्यापारिक लेन-देन का भुगतान इन्हीं के द्वारा शीघ्र तथा कम-से-कम ख़र्च में होता है। काग़ज़ द्वारा विनिमय की नींव विश्वास तथा साख पर निर्भर है। इसमें एक सुविधा और यह है कि मुद्रा न होने पर भी केवल साख (Credit) द्वारा ही व्यापार चल सकता है। अनुमान किया जाता है कि भविष्य में धातु का व्यवहार कम हो जायगा और केवल काग़ज़ द्वारा ही विनिमय-कार्य चलेगा।
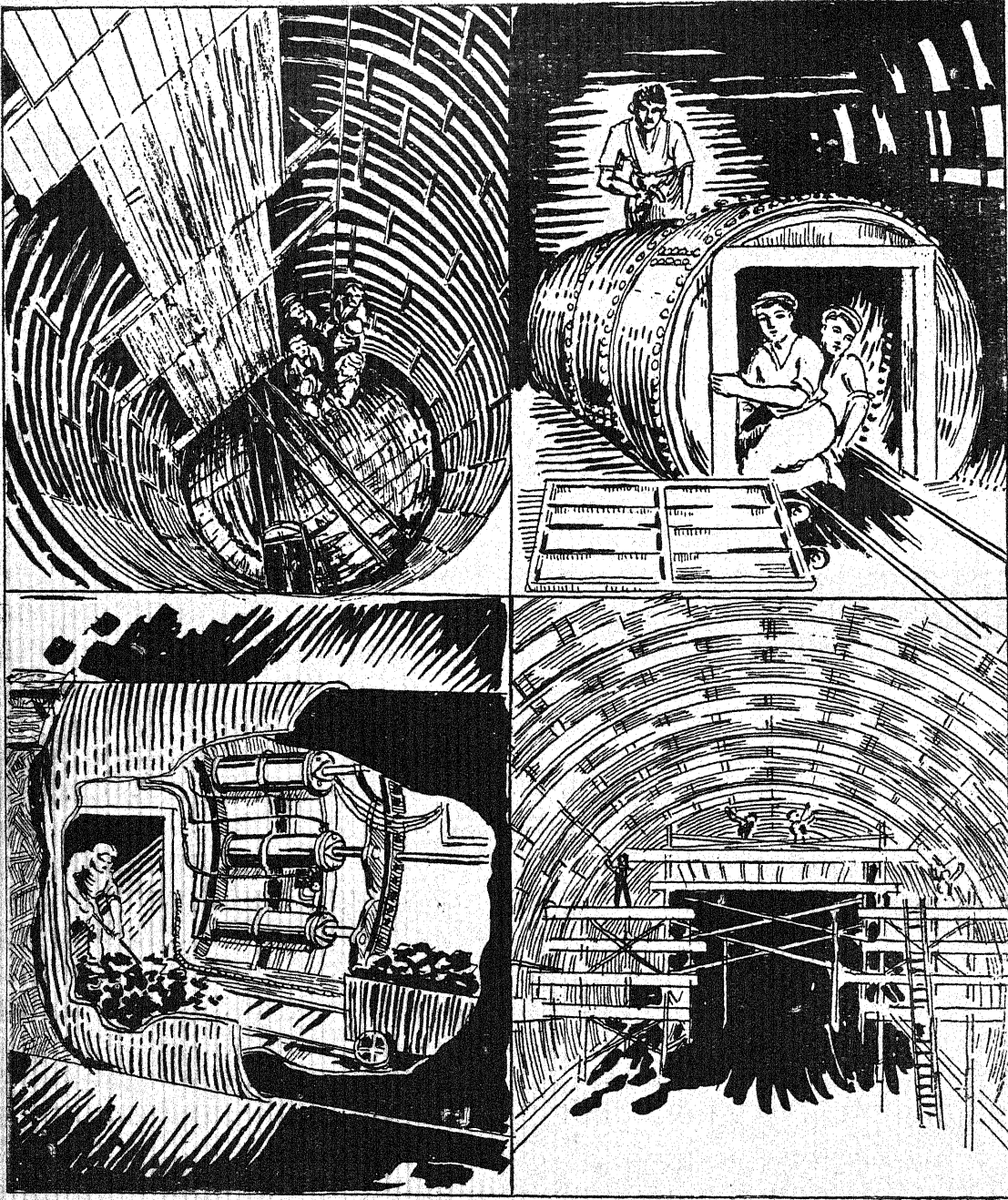
सुरंगें किस तरह बनाई जाती हैं ?

(ऊपर की पंक्ति में बाईं ओर) शैफ़्ट का दृश्य । यह सुरंग की खुदाई की पहली मंज़िल है । जैसा कि लेख में विस्तार के साथ समझाया गया है, बहुत गहराई पर सुरंग खोदने के लिए प्रायः थोड़ी-थोड़ी दूरी पर कई कुएँनुमा 'शैफ्ट' धरती में गलाए जाते हैं । उन्हीं के रास्ते मज़दूर और खुदाई का सामान, यंत्र आदि नीचे पहुँचाए जाते और खोदी गई चट्टानों का मलबा बाहर निकाला जाता है । शैफ़्ट बना लेने पर फिर सुरंग की आड़ी खुदाई शुरू होती है । चित्र में शैफ़्ट का वैसा दृश्य है जैसा कि ऊपर से देखने पर वह दिखाई पड़ेगा । कुछ मज़दूर नीचे उतर रहे हैं । (ऊपर दाहिनी ओर) 'एयरलॉक' का दृश्य । (नीचे बाईं ओर) 'ग्रीदहेड शील्ड' के भीतर का दृश्य । (नीचे दाहिनी ओर) खुदाई समाप्त हो जाने पर लोहे की शहतीरों और कंकरीट से सुरंग की दीवाल चुनी जा रही है ।
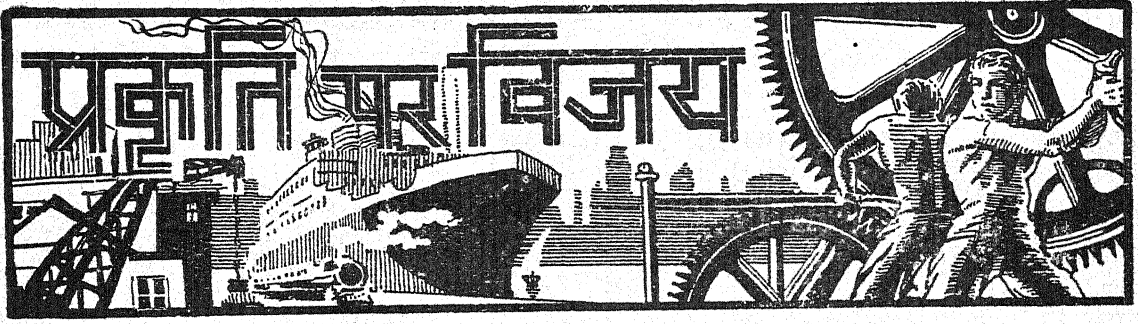
धरती पर विजय—(३) मीलों लंबी सुरंगें

पर्वत-श्रेणियों या धरती के पेटे को भेदकर रास्ता निकालने का प्रयत्न

वायु पर विजय प्राप्त करने के बहुत पहले ही मनुष्य ने धरती पर अधिकांश में विजय प्राप्त कर ली थी। पर्वत-श्रेणी के उस पार जाना हुआ तो वह अब लम्बा चक्कर लगाकर नौ दिन में ढाई कोस का रास्ता नहीं तय करता, बल्कि कठफोड़ कीड़े की तरह पर्वत-श्रेणी को ही भेद-कर वह अब सीधा आगे बढ़ता है। यदि बिना पुल बनाए नदी लाँघना हुआ तो वह नदी के पेटे के नीचे धरती के भीतर ही भीतर सुरंग बनाकर इस पार से उस पार के लिए सड़क बना लेता है। घनी बस्ती वाले व्यापारिक बड़े नगरों में सवारियों को सड़क पर भीड़ के कारण चलने को जगह नहीं मिलती तो मनुष्य अब ज़मीन के नीचे सुरंगों का जाल बिछाकर उनमें छोटी-छोटी रेलगाड़ियाँ दौड़ाता है, ताकि कारख़ानों और आफ़िसों में काम करनेवाले लोग ठीक समय पर अपनी-अपनी ड्यूटी पर पहुँच जायँ।

सदियों पहले, जब सभ्यता का उदय भी नहीं हुआ था, इङ्गलैण्ड के आदि निवासियों ने बारहसिंघे के सींघ की मदद से ज़मीन के अन्दर दूर-दूर तक सुरंगें खोद डाली थीं। इन सुरंगों के निर्माण में उन लोगों ने निःसन्देह ग़ज़ब की लगन, धुन और अध्यवसाय का परिचय दिया था। इन सुरंगों में ये लोग शिकार करने के अपने पत्थर के हथियारों

मनुष्य टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता अब नहीं पसंद करता—वह एकदम सीधी सड़कें चाहता है!

यदि उसके रास्ते में पहाड़ की दीवार जैसी कोई बड़ी आड़ आ जाये तो भी वह उसे फोड़-कर—उसमें सुरंग बनाकर—ही आगे बढ़ेगा। उसका चक्कर काटने को वह तैयार नहीं। ऊपर के चित्र में अमेरिका के एक विशाल वृक्ष के भीमकाय तने में काटी गई एक सुरंग का दृश्य है। यह वृक्ष उस ओर निकलनेवाले एक रास्ते की आड़ में पड़ता था। वृक्ष भी बना रहे और गाड़ी-घोड़ों को रास्ते से मुड़ना भी न पड़े, इन दोनों बातों को करने के लिए किसी बुद्धिमान व्यक्ति ने इसके तने में ही सुरंग फोड़कर मोटर जाने भर का रास्ता निकाल लिया!
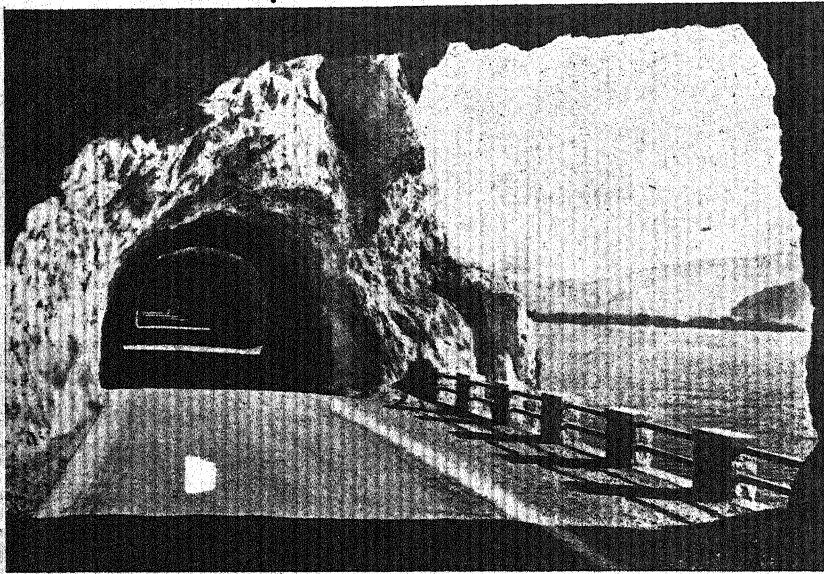
इटली में गार्डा नामक झील के एक किनारे पर सीधी खड़ी पहाड़ी की दीवाल में एक के बाद एक खोदी गई कई सुरंगों में से होकर जाती हुई सड़क का अद्भुत दृश्य। बीच-बीच में इन सुरंगों में खुले झरोखे भी निकल आए हैं।

को शत्रुओं की नज़र से छिपाकर रखते थे। उन दिनों पत्थर के ये हथियार ही मनुष्य की सबसे बहुमूल्य संपत्ति माने जाते थे।

तदुपरान्त भिन्न-भिन्न उद्देशों को लेकर लोगों ने सुरंगों का निर्माण करना शुरू किया। मिस्र-निवासियों ने क़ब्र बनाने के लिए गहरी सुरंगें खोदीं। मिस्र का प्रत्येक बादशाह उन दिनों अपनी समाधि के लिए पहाड़ियों के नीचे अपने जीवन-काल में ही सुरंगें खुदवा लेता था।

सुरंग खोदने में वैज्ञानिक प्रणाली का सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय रोमन सम्राटों को प्राप्त है। सड़कों और पुलों के साथ-साथ इन्हें जगह-जगह सुरंगें बनाने की भी ज़रूरत पड़ी। योरप में जिन-जिन देशों में रोमन सम्राट् गए, वहीं उन्होंने बढ़िया जाति की सुरंगों का निर्माण किया। इस सम्बन्ध में स्विट्ज़रलैण्ड का नाम विशेष उल्लेखनीय है। पानी के नल ज़मीन के नीचे बिछाने के लिए, सड़कों के लिए, पहाड़ों में से होकर रास्ता निकालने के लिए, तथा पानी के निकास के लिए, हर प्रकार की सुरंगें रोमन लोगों ने बनवाई थीं। अपीनाइन पर्वत-श्रेणी के माउण्ट सैल्विनो पहाड़ को भेदकर आज से दो हज़ार वर्ष पूर्व ३॥ मील लम्बी एक सुरंग रोमन लोगों ने बनवाई थी! यह सुरंग १० फ़ीट ऊँची और ६ फ़ीट चौड़ी थी। फ़ूसिनो झील के पानी की निकासी के लिए यह सुरंग खोदी गई थी। इस बात का लेखा मौजूद है कि इसके निर्माण में ३० हज़ार मज़दूरों को निरन्तर ११ वर्ष तक काम करना पड़ा था। इसकी खुदाई के सिलसिले में ४० कुएँ ऊपर से सुरंग की सतह तक थोड़ी-थोड़ी दूर पर खोदने पड़े थे। इनमें से कुछ एक कुएँ तो ४०० फ़ीट से भी ज़्यादा गहरे थे! इन कुओं के अतिरिक्त कितने ही तिरछे रास्ते ऊपर पहाड़ के ढाल से सुरंग तक खोदे गए थे, ताकि सुरंग खोदते समय जो पत्थर, कंकड़ आदि तोड़े जायँ, उन्हें इन्हीं रास्तों से ऊपर खींच लें। उन दिनों कंकड़-पत्थर को ऊपर खींचने के लिए किसी प्रकार की मशीन न थी। केवल घिर्री की मदद से कंकड़-पत्थर से भरी हुई टोकरियों को ऊपर खींचना पड़ता था।

उन दिनों सुरंग खोदना कठोर परिश्रम का काम था। अँधेरी गुफ़ा में मोमबत्ती की धुँधली और डरावनी रोशनी के सहारे बेचारे मज़दूर एक-एक इंच करके चट्टान को काटते थे। मज़दूरों के बचाव के लिए ऊपर सुरंग की छत पर आजकल जैसी लोहे की कोई चद्दर (शील्ड) नहीं लगी होती थी। मज़दूर ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते, शहतीरों का सहारा छत के नीचे लगाते जाते। ऐसी परिस्थितियों में तरह-तरह की आफ़तों का उन्हें पग-पग पर सामना करना पड़ता। कभी-कभी तो सुरंग की छत ही, जहाँ कमज़ोर पड़ती, सब कुछ लिये-दिये नीचे को बैठ जाती और सैकड़ों मज़दूर बेचारे उसके नीचे दबकर मर जाते! कभी एकाएक पहाड़ी में से गर्म पानी के सोते फूट उठते और बात-की-बात में समूची सुरंग जलमय हो जाती। इसी तरह कभी पहाड़ी के अन्दर से विषैली गैसें निकल पड़तीं और बेचारे मज़दूरों का दम घुट जाता!

किन्तु इञ्जीनियरिंग की उन्नति के साथ-साथ सुरंग खोदने की कला में भी नए-नए तरीक़े निकाले गए। पहाड़ियों और टीलों के अन्दर सुरंग खोदने के लिए अब

जगह-जगह गहरे कुएँ खोदे जाते हैं, जो नीचे सुरंग तक पहुँचते हैं। ये गहरे कुएँ 'शैफ़्ट' कहलाते हैं। इन्हीं शैफ़्टों के सहारे सुरंग को एक सीधी रेखा में खोदते हैं। साथ ही इन कुओं के रास्ते सुरंग में बराबर ताज़ी हवा भी पहुँचती रहती है। किन्तु ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों तथा पानी के नीचे इस तरह के शैफ़्ट का खोदा जाना सम्भव नहीं है। ऐसी जगहों में सुरंग खोदने के लिए फ़ौलाद की मज़बूत चद्दरों के बने हुए बेलनाकार पीपों से काम लेते हैं। इन पीपों को 'शील्ड' कहते हैं। उन्हीं के भीतर खड़े होकर मज़दूर सुरंग की चट्टानें खोदते हैं। ऐसी दशा में छत के टूटने पर उन्हें किसी प्रकार की जोखम नहीं पहुँच सकती। फ़ौलाद के ये मज़बूत पीपे सुरंग की छत को सँभाले रहते हैं।

'शील्ड' का सर्वप्रथम प्रयोग एक अंग्रेज़ इञ्जीनियर ब्रनेल ने किया था। १८ वीं शताब्दी के शुरू में ऊपर से शैफ़्ट गलाकर टेम्स नदी के नीचे सुरंग खोदने का प्रयत्न किया गया। किन्तु शैफ़्ट से केवल ११०० फ़ीट की दूरी तक सुरंग खोदी जा सकी। इसके आगे बढ़ने पर कई बार नदी के पेटे की नरम मिट्टी सुरंग में बैठ गई। कितनी ही जानें व्यर्थ में गईं। आख़िर ५ वर्ष के कठोर परिश्रम के बाद इस योजना को त्यागना पड़ा।

१८१६ में अंग्रेज़ इञ्जीनियर ब्रनेल इस फ़िक्र में लगा हुआ था कि किस तरह टेम्स नदी की समस्या सुलझाई जाय। एक दिन उसने एक कीड़े को काठ में सूराख़ करते हुए देखा। ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने पर उसने देखा कि इस कीड़े के शरीर के ऊपर एक बेलनाकार कड़ी खोल चढ़ी हुई है। इसी खोखली नली को स्क्रू की तरह घुमा-घुमाकर वह कीड़ा काठ में धीरे-धीरे सूराख़ करता है और फिर बुरादे को अपनी खोल और शरीर की बीचवाली साँस के रास्ते निकालकर पीछे फेंक देता है।

बस एकाएक उसके दिमाग़ में यह बात आई कि उसी सिद्धान्त का प्रयोग करके वह भी टेम्स नदी के नीचे सुरंग खोदने में सफल हो सकता है। तदनुसार १८१८ में उसने सुरंग खोदने की अपनी निज की एक प्रणाली को पेटेन्ट कराया। उस प्रणाली में कच्चे लोहे की मज़बूत चद्दर की बनी हुई शील्ड काम में लाई गई थी। ब्रनेल की शील्ड में १२ पीपे एक दूसरे के साथ जुटे हुए थे। प्रत्येक पीपा व्यास में २२ फ़ीट ऊँचा और ३ फ़ीट लम्बा था। उन पीपों के अन्दर ३६ कम्पार्टमेण्ट बनाए गए थे। इन कम्पार्टमेण्टों के भीतर-भीतर मज़दूर पीपे के एक सिरे से दूसरे सिरे तक आते-जाते थे। सबसे आगेवाले पीपे में खड़े

भारतवर्ष की सबसे लंबी रेल की सुरंग—'खोजक टनल'

यह बलूचिस्तान में ख़्वाजा अमरान नामक ८००० फ़ीट ऊँची पर्वतमाला को भेदकर चमन के समीप बनाई गई है। इसकी कुल लंबाई २॥ मील के लगभग है। चित्र में सुरंग का पूर्वी मुहाना दिखाई दे रहा है।

होकर मज़दूर सामने की चट्टान को तीन फ़ीट की दूरी तक काटते हुए कंकड़-पत्थर को इन्हीं कम्पार्टमेण्ट के रास्ते पीछे को ट्राली में भरकर भेज देते। अब पूरी शील्ड तीन फ़ीट आगे को खिसकाई जाती। इस विशालकाय शील्ड को आगे सरकाने के लिए हाइड्रालिक जैक काम में लाया जाता था। पीछे की खाली हुई तीन फ़ीट जगह में अब सुरंग की दीवालों में चारों ओर पक्की ईंटें चुन देते। इस प्रकार ३७ फ़ीट ६ इंच चौड़ी और १२०० फ़ीट लम्बी एक वर्गाकार सुरंग तैयार कर ली गई। उसके अन्दर १७ फ़ीट ऊँची और १८ फ़ीट चौड़ी दो मेहराबदार सुरंगें बना ली गईं। ठौर-ठौर पर एक सुरंग से दूसरी सुरंग में जाने के लिए रास्ते भी बना लिये गए।

इसके बाद जेम्स ग्रीदहेड ने ब्रनेल शील्ड में अनेक सुधार किए। उस शील्ड के आविष्कार के पहले सुरंग खोदते समय पेटे से अकसर बालू और पानी की धार फूट निकलती थी, जिसमें मज़दूर ज़िन्दा दफ़न हो जाते थे। इस प्रकार की दुर्घटना से बचने के लिए जेम्स ग्रीदहेड ने अपनी शील्ड में संकुचित वायु का प्रयोग किया। संकुचित वायुवाली शील्ड के आविष्कार के बिना टेम्स नदी के नीचे सुरंगों का जाल कदाचित् कभी भी न बिछ पाता और न लन्दन के नीचे ट्यूब रेलवे की ही लाइनें संभव हो पातीं।

ब्रनेल की शील्ड में प्रत्येक कम्पार्टमेण्ट एक दूसरे से एकदम अलग था। अकेले एक कम्पार्टमेण्ट को भी उसमें आवश्यकतानुसार आगे को खिसका सकते थे। ग्रीदहेड शील्ड के अन्दर भी कम्पार्टमेण्ट बने होते हैं, किन्तु खुदाई का काम सभी कम्पार्टमेण्टों में एक गति से आगे बढ़ता है। सामने के हिस्से में बालू और पानी की धार रोकने के लिए संकुचित वायु का प्रयोग करते हैं। सुरंग की सामनेवाली दीवाल पर हवा का समूचा दबाव क़रीब २०० टन के बराबर पड़ता है। हवा के इस प्रबल वेग के कारण पानी और बालू आदि पेटे से बाहर निकलने नहीं पाते।

ग्रीदहेड शील्ड एक बन्द बक्स की भाँति होती है। बक्स के अन्दर १२ कम्पार्टमेण्ट होते हैं, जिनमें संकुचित वायु भरी होती है। प्रत्येक कम्पार्टमेण्ट के प्रवेश-द्वार पर एक छोटी-सी कोठरी बनी होती है, जिसके अन्दर हवा का दबाव इच्छानुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है। संकुचित वायु के कम्पार्टमेण्ट में घुसने के पहले मिस्त्री लोग इसी कोठरी में कुछ देर तक खड़े रहते हैं, ताकि उनके फेफड़े पर हवा का दबाव धीरे-धीरे बढ़ाया जा सके। यदि फेफड़ों पर हवा का ज़ोर एकाएक बढ़ा दिया जाय तो उन्हें नुक़सान पहुँचने की गहरी सम्भावना रहती है। प्रवेश-द्वार पर लगी हुई उस छोटी-सी कोठरी को 'एयरलॉक' कहते हैं।

संसार के सबसे लंबे पुल सैनफ्रैन्सिस्को-ओकलैण्ड ब्रिज—के सिलसिले में यर्वा-ब्यूना द्वीप की चट्टान में खोदी गई सुरंग बड़े निराले ढंग से बनाई गई। पहले सुरंग की दीवालों के लिए चट्टान में खोदकर सँकरी-सी जगह बना ली गई। तदुपरांत सुरंग की मेहराब तैयार कर बीच की चट्टानें संकुचित वायु की बर्मी से खोदकर निकाल ली गईं।

शील्ड ज्यों-ज्यों आगे को खिसकायी जाती है, पीछे की ओर सुरंग की दीवालों पर फ़ौरन् ही द्रव सीमेण्ट की मोटी तह संकुचित वायु की मदद से जमा दी जाती है और फिर कास्ट आयरन (कच्चे लोहे) का मज़बूत ट्यूब उसमें फ़िट कर दिया जाता है। इस ट्यूब की दीवालें डेढ़-दो इंच मोटी होती हैं। मज़बूती में ये ट्यूब अद्वितीय होते हैं। इनमें मोर्चा भी नहीं लग सकता। तदुपरान्त ट्यूब के भीतर

को 'एयरलॉक' में बड़ी देर तक रुकना पड़ता है, ताकि धीरे-धीरे हवा का दबाव बढ़ाकर वे अपने फेफड़ों को भारी दबाव सँभालने का अभ्यस्त बना लें। इसी प्रकार खुदाई समाप्त करके जब ये लोग बाहर निकलते हैं, तब भी खुली हवा में आने के पहले एयरलॉक में रुककर वे धीरे-धीरे अपने चारों ओर की हवा का दबाव कम कर लेते हैं। ग्रीदहेड शील्ड के आविष्कार के प्रारम्भिक दिनों में मज़दूर बग़ैर एयरलॉक का प्रयोग किये ही सीधे खुली हवा में से संकुचित वायु के कम्पार्टमेंएट में चले जाते थे। फेफड़े पर हवा का दबाव एकदम बढ़ जाने से उनके स्वास्थ्य को बड़ी हानि पहुँचती थी। यहाँ तक कि सुरंग खोदनेवाले मज़दूरों की वार्षिक मृत्यु-संख्या २५ प्रतिशत से भी ऊपर चली गई। तुरन्त डाक्टरों की राय उस मामले में ली गई और अन्त में एयरलॉक का प्रयोग करना तय पाया, ताकि फेफड़े पर हवा का दबाव अचानक घटे-बढ़े नहीं। इस नए आविष्कार का आशातीत फल निकला। वार्षिक मृत्यु की संख्या २५ प्रतिशत से घटकर एक प्रतिशत रह गई!

कहीं-कहीं दो सुरंगों के बीच में हज़ारों फ़ीट गहरा खड्ड आ जाता है। उस दशा में दोनों के बीच पुल बना दिया जाता है। चित्र में मलाया प्रायद्वीप की ऐसी ही दो सुरंगों का दृश्य है।

चारों तरफ़ पक्की ईंटें जड़ दी जाती हैं, ताकि पैदल यात्रियों को सुरंग के अन्दर रास्ता चलने में कष्ट न हो।

सुरंग के अन्दर शील्ड को आगे खिसकाने के लिए दो-तीन हज़ार टन की शक्ति लगानी पड़ती है। ऐसी सुरंगों के खोदने का काम चौबीसों घण्टे जारी रहता है। मज़दूर और मिस्त्री टोलियाँ बनाकर बारी-बारी से काम करने को आते हैं। तिस पर भी २४ घण्टे में ६–७ फ़ीट से ज़्यादा वे खोद नहीं पाते।

कितनी गहराई पर सुरंग खोदी जायगी, इञ्जीनियर को इसका भी ध्यान रखना पड़ता है; क्योंकि ज़मीन के अन्दर जितनी ज़्यादा गहराई पर हम जायँगे, उतनी ही ज़्यादा कठिनाई संकुचित वायु के अन्दर काम करने में पड़ती है। संकुचित वायुवाले कम्पार्टमेंएट में घुसने के पहले मज़दूरों

सुरंग के अन्दर मज़दूर हवा के अत्यधिक दबाव के कारण बड़ी देर तक लगातार काम नहीं कर सकते। यदि दबाव २५ पौण्ड प्रति वर्ग इंच के लगभग हुआ, तो २४ घण्टे में केवल ६ घण्टे मज़दूर काम करता है। तीन घण्टे काम लेने पर मज़दूरों को एक घण्टा आराम करने के लिए मिलता है। ज्यों-ज्यों हवा का दबाव बढ़ता है त्यों-त्यों मज़दूरों के काम करने के घण्टों में भी कमी की जाती है। यदि ४५ पौण्ड प्रति वर्ग इंच दबाव हुआ तो २४ घण्टे में मज़दूर केवल दो घण्टे काम करता है और सो भी एक सिलसिले में नहीं। एक घण्टा काम कर लेने के बाद वह बाहर चला आता है और चार घण्टे विश्राम कर लेने के उपरान्त फिर एक घण्टे के लिए वह काम करने के लिए सुरंग के अन्दर प्रवेश करता है। यदि दबाव ५० पौण्ड प्रति वर्ग इंच हुआ तो मज़दूर २४ घण्टे में कुल १॥ घण्टे काम करता है—४५ मिनट के उसके दो शिफ़्ट लगते हैं, और इन दोनों शिफ़्टों के दर्मियान कम-से-कम ५ घण्टे का विश्राम दिया जाता है।

सुरंगें प्रायः तीन प्रकार की होती हैं—एक जो ऊँचे पहाड़ों में से होकर गुज़रती हैं, दूसरी जो ज़मीन के धरातल से थोड़ी ही गहराई पर नीचे बनाई जाती हैं, और तीसरी जो ज़मीन के अन्दर बहुत गहराई पर खोदी जाती हैं।

पहली जाति की सुरंगें आल्प्स पर्वत और अमेरिका की रॉकी पर्वतमाला में खोदी गई हैं। ऐसी सुरंगों की सतह समतल नहीं होती। एक सिरे से दूसरे सिरे तक ज़बर्दस्त ढाल होता है, ताकि ऊपर से टपकता हुआ पानी बहकर अपने आप आसानी से बाहर निकल जाय। ऐसी सुरंगों में पहाड़ के ढाल से अकसर पानी टपका करता है।

दूसरी तरह की सुरंगें लन्दन में पैदल चलनेवालों के आने-जाने के लिए ज़मीन की सतह से थोड़ी ही नीचे खुदी हुई हैं। तीसरी जाति की सुरंगें ज़मीन या नदी के पेटे से बहुत नीचे गहराई पर खोदी जाती हैं। लन्दन की ट्यूब रेलवे की सुरंगें इसी श्रेणी की हैं।

पहाड़ में खोदी गई सुरंगों में आल्प्स की सुरंगें विशेष महत्त्व रखती हैं। इनके निर्माण में इञ्जीनियरों ने विज्ञान की वास्तविक शक्ति का परिचय दिया है। इन सुरंगों के बनने के पहले आल्प्स को पार करने में १४ घण्टे लगते थे—अब बर्फ़ से ढकी हुई चोटी के ६००० फ़ीट तले सुरंगों में होकर १५ मिनट में रेलगाड़ियाँ आल्प्स के इस पार से उस पार को निकल जाती हैं!

पहाड़ की इन सुरंगों के खोदने में ग्रीदहेड शील्ड से काम नहीं चलता, क्योंकि इस तरह की शील्ड नरम मिट्टी और बालू आदि के अन्दर ही काम में लाई जा सकती है। पहाड़ की सख्त चट्टानों के अन्दर सुरंग बनाने के लिए पहले एक ही सीध में थोड़ी-थोड़ी दूरी पर चट्टान में गहरे शैफ़्ट बड़े आकार की बर्मी से खोद लेते हैं। फिर शैफ़्ट के पेटे में डाइनामाइट डालकर उसका विस्फोट कराते हैं। इस प्रकार तह की चट्टानें तोड़ दी जाती हैं। शैफ़्ट के ही रास्ते टूटी हुई चट्टानें और कंकड़ आदि बाहर मशीन द्वारा खींच लिये जाते हैं। इस रीति का सर्वप्रथम प्रयोग आल्प्स की पहली सुरंग 'माउण्ट सेनिस टनल' के तैयार करने में हुआ था। इसकी खुदाई में बर्मियों के लिए चालक शक्ति संकुचित वायु से प्राप्त की गई थी।

माउण्ट सेनिस टनल १८७० ई० में तैयार हुई थी। यह ७॥ मील लम्बी है। इसकी ऊँचाई १९ फ़ीट और चौड़ाई २६ फ़ीट है। इसके निर्माण में पूरे १३ वर्ष लगे थे। पहले चार वर्षों तक खुदाई का काम मज़दूरों ने फावड़ों से किया, फिर बाद में संकुचित वायु द्वारा परिचालित बर्मियों का प्रयोग किया जाने लगा। अवश्य ही तब खुदाई की रफ़्तार भी पहले से तेज़ हो गई। लोगों की राय इस सुरंग की स्कीम के एकदम ख़िलाफ़ थी। आम जनता का ख़्याल था कि यह स्कीम कभी सफल हो ही नहीं सकती। यहाँ तक कि जब सुरंग बनकर तैयार हो गई, तो किसी ने अख़बार में गप्प उड़ा दी कि इस सुरंग के उद्घाटन के दिन एक रेलगाड़ी को लेकर तीन ड्राइवर इस सुरंग में घुसे थे; उनमें दो का तो दम रास्ते में ही कोयले के धुएँ से घुट गया और तीसरा भी अस्पताल में पड़ा-पड़ा मृत्यु की घड़ियाँ गिन रहा है—जब कि वास्तव में सही बात यह थी कि किसी डाइवर के सिर में दर्द भी नहीं हुआ था।
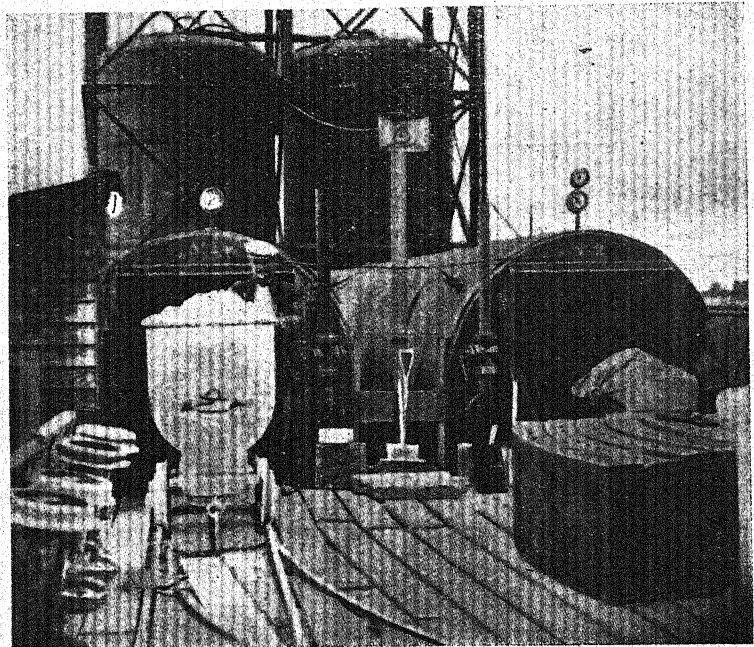
अभी हाल में टेम्स नदी के नीचे बनायी जा रही एक और नई सुरंग के निर्माण के समय काम में लाये जानेवाले दो 'एयरॉलकों' का दृश्य

दाहिनी ओर का 'एयरलॉक' (जिस पर नं० २ लिखा है) बंद है। बाईं ओर का खुला है और उसमें से एक खड़िया मिट्टी से भरी ट्राली बाहर निकल रही है।
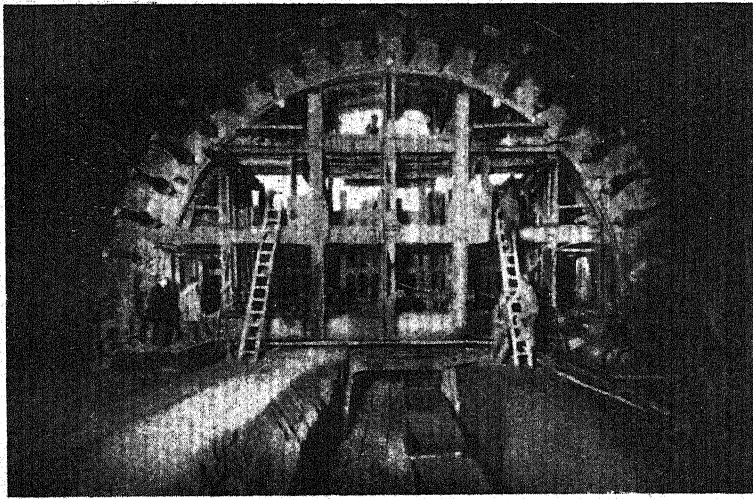
इंगलैंड की मर्सी नदी के नीचे हाल में बनाई गई सुप्रसिद्ध सुरंग के निर्माण के समय का दृश्य। छत पर लगी हुई अर्द्ध-वर्तुलाकार 'शील्ड' के नीचे मज़दूर खुदाई कर रहे हैं। पहले ऊपरी आधा हिस्सा खोद लिया जाता और उसकी दीवाल बना ली जाती, बाद में निचला आधा भाग भी खोदकर तैयार कर लिया जाता था।
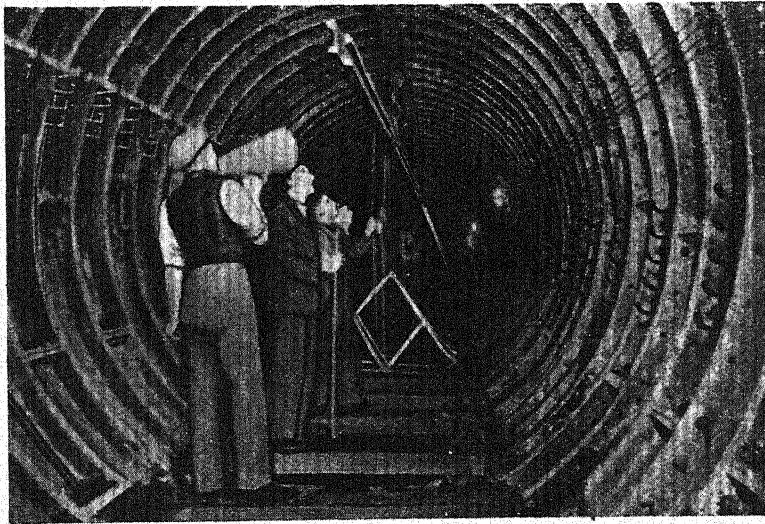
लंदन की धरती के नीचे बनी हुई रेलगाड़ियों की सुरंगों में आसपास लोहे और कंकरीट की दीवाल बना देने के बाद रेल की पटरियाँ बिछाई जा रही हैं।

आल्प्स की 'आर्लबर्ग सुरंग' इन्सबर्ग को कान्सटैन्स झील से मिलाती है। इसकी लम्बाई ६⅓ मील है। इसकी खुदाई में तीन वर्ष लगे थे। ख़र्च प्रति गज़ १५००) रु० बैठा था।

आल्प्स की चौथी सुरंग 'सिम्पलन टनल' १२॥ मील लम्बी है। यही योरप में सबसे बड़ी सुरंग है। मुख्य सुरंग के साथ-साथ उसी के समानान्तर एक सँकरी सुरंग भी ताज़ी हवा पहुँचाने के लिए बनी हुई है। मुख्य सुरंग १४ फ़ीट ९ इंच चौड़ी और १८ फ़ीट ऊँची है।

आल्प्स की सुरंगों के खोदने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। ज्यों-ज्यों सुरंगें आगे बढ़ती जाती हैं, उनके ऊपर पर्वत की ऊँचाई भी बढ़ती जाती है, अतः सुरंग के अन्दर गर्मी भी बढ़ती है। सेंट गोथार्ड सुरंग की खुदाई के समय तो तापक्रम ९३° फ़ा० तक पहुँच गया था। ऐसी गर्मी में मज़दूर ठीक तौर पर अपना काम पूरा नहीं कर पाते थे। ताज़ी हवा पहुँचाने का भी प्रबन्ध इतनी गहराई पर ठीक नहीं हो पाता था। फलस्वरूप डायनामाइट के विस्फोट से उत्पन्न गैसों के कारण कितने ही मज़दूरों और घोड़ों के दम घुट गए—सो भी ऐसी दशा में जबकि ४५ लाख घनफ़ीट ताज़ी हवा प्रतिदिन पम्प करके सुरंग के भीतर भेजी जाती थी! इन्हीं कारणों से सेंट गोथार्ड की खुदाई के सिलसिले में ३०० जानें गईं और ७०० से अधिक मज़दूर घायल हुए।

आल्प्स पर्वत की 'सेंट गोथार्ड सुरंग' ९। मील लम्बी है। इसकी खुदाई में पूरे ९ वर्ष लगे थे। रात-दिन ४००० मज़दूर खुदाई पर लगे रहते थे! संकुचित वायु द्वारा परिचालित गाड़ियाँ कंकड़-पत्थर आदि ढोने के लिए काम में लाई जाती थीं। इस सुरंग के खोदने में प्रति गज़ २०००) रु० ख़र्च बैठा था। यह दुनिया की बहुत लंबी सुरंगों में है।

सिम्पलन टनल की खुदाई में निस्सन्देह सेंट गोथार्ड के अनुभव से लाभ उठाया गया, किन्तु फिर भी ६० मज़दूरों की जानें इस सुरंग के निर्माण में चली गईं। इस सुरंग के

खोदने में १३५० टन डांयनामाइट ख़र्च हुई थी। सुरंग खोदते समय कई जगह पानी की तेज़ धार फूट पड़ी थी। एक बार तो प्रति मिनट १० हज़ार गैलन के हिसाब से पानी पहाड़ के सोतों से सुरंग के अन्दर आने लग गया था। यह पानी इतना ठण्डा था कि सुरंग के अन्दर फ़ौरन् ही तापक्रम घटकर ६३ डिग्री फ़ा० से ५५ डिग्री फ़ा० पर पहुँच गया। सुरंग की खुदाई समाप्त होते-होते एकदम उलटी ही घटना घटी। गर्म पानी के कई सोते एकाएक फूट पड़े! इस पानी का तापक्रम ११३ डिग्री फ़ा० था। प्रति मिनट १६०० गैलन पानी सुरंग के अन्दर आने लगा। तापक्रम घटाने के लिए फ़ौरन् ही ठण्डी हवा और ठण्डा पानी पम्प के ज़रिये सुरंग के अन्दर पहुँचाया गया। सेंट गोथार्ड की खुदाई में भी दक्षिण प्रवेश-द्वार के नज़दीक मज़दूरों को घुटने भर पानी के अन्दर खड़े होकर चट्टान खोदनी पड़ी थी! मूसलाधार पानी छत से बरसता था। अक्सर सामने की दीवाल से पानी की मोटी धार फूट पड़ती, जो मज़दूर को धक्का देकर कभी-कभी ज़मीन पर गिरा देती! पानी का निकलना रोकने के लिए संकुचित वायु का प्रयोग किया जाता था, जो अपने प्रबल दबाव की वजह से पानी को दीवालों के अन्दर से निकलने ही नहीं देती थी। इतनी सावधानी के रखने पर भी पानी के कारण सुरंग बनाते समय दुर्घटनाएँ हो ही जाती हैं। हडसन नदी
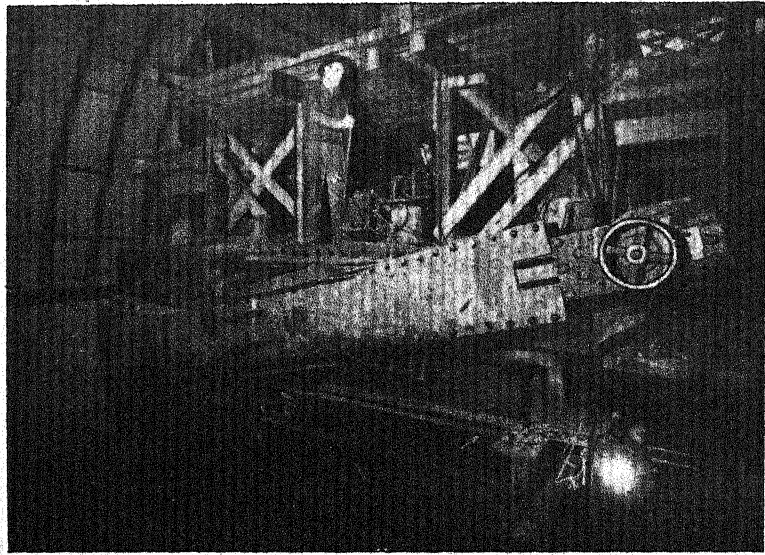
अमेरिका में हडसन नदी के नीचे सुरंग खोदते समय काम में लाई गई शील्ड का दृश्य। सामने का यंत्र-भाग 'इरेक्टर' कहा जाता है। इसकी मदद से सुरंग की दीवार और छत में फ़ौलाद की मेहराबदार शहतीरें और चद्दरें लगाई जाती हैं।
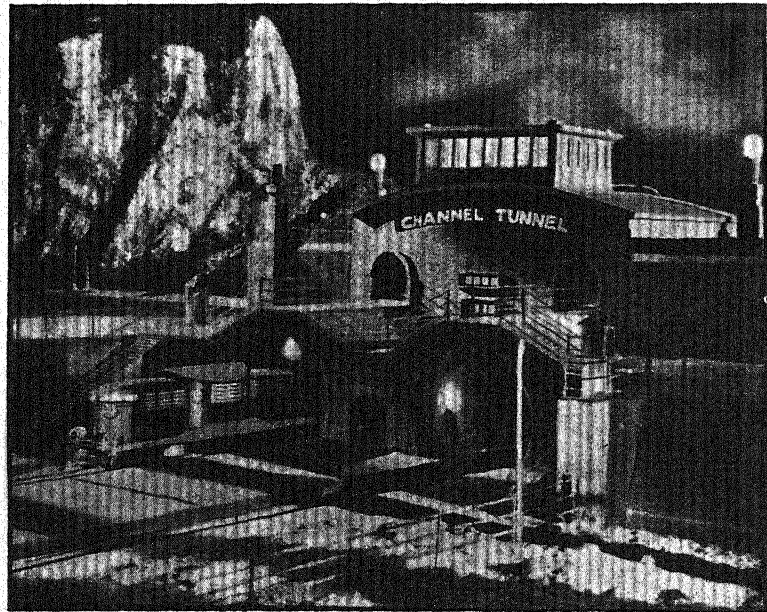
लंबी-लंबी सुरंगों के बनाने में सफलता प्राप्त होने पर योरप महाद्वीप और ग्रेट ब्रिटेन के बीच की इंगलिश चैनेल नामक खाड़ी के नीचे भी सुरंग बनाकर रेल का रास्ता निकाल लेने की बात सोची गई। इस प्रस्तावित लंबी सुरंग की कुल लंबाई ३१ मील और गहराई समुद्र की सतह से २६० फ़ीट होगी। दोनों तटों की ओर से लगभग डेढ़-डेढ़ मील सुरंग खोदी भी जा चुकी थी, पर युद्ध-विभाग के विरोध के कारण यह काम बंद कर देना पड़ा। इस चित्र में इस अपूर्ण सुरंग का मुहाना दिखाई दे रहा है।

के नीचे जब सुरंग खोदी जा रही थी, तब एक दिन सुरंग में इतने ज़ोर से पानी फट पड़ा कि समूची छत बैठ गई और २० मज़दूर उसी के अन्दर फँसकर डूब गए !

इस तरह की सुरंगों की खुदाई प्रायः दोनों सिरों से एक ही साथ आरम्भ की जाती है। बीच में दोनों ओर की सुरंगें मिल जाती हैं। अवश्य ही दोनों ओर की सुरंगों को एक सीध में रखने के लिए बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है। १२॥ मील लम्बी सिम्पलन टनल की खुदाई के समय जब दोनों ओर की सुरंगें बीच में मिलीं तो उनकी दीवालें ठीक एक-दूसरे की सीध में मिल गईं! उनके फ़र्श के धरातल में केवल ४ इंच का अन्तर पड़ा, सो भी ऐसी हालत में, जब कि सुरंग का उत्तरी प्रवेश-द्वार दक्षिणी द्वार से १७५ फ़ीट उँचे धरातल पर था। सेंट गोथार्ड की खुदाई भी दोनों सिरों से एक ही साथ शुरू की गई थी। बीच में जब दोनों ओर की सुरंगें मिलीं तो उनके फ़र्श के धरातल में केवल ४॥ इंच का अन्तर था। कैलिफ़ोर्निया की फ़्लोरेन्स टनल की खुदाई में तो इञ्जीनियरों ने वास्तव में कमाल कर दिखाया। दोनों ओर की सुरंगें बीच में जब मिलीं तो उनके फ़र्श के धरातल में केवल $\frac{१}{३०}$ इंच का अन्तर पड़ा!
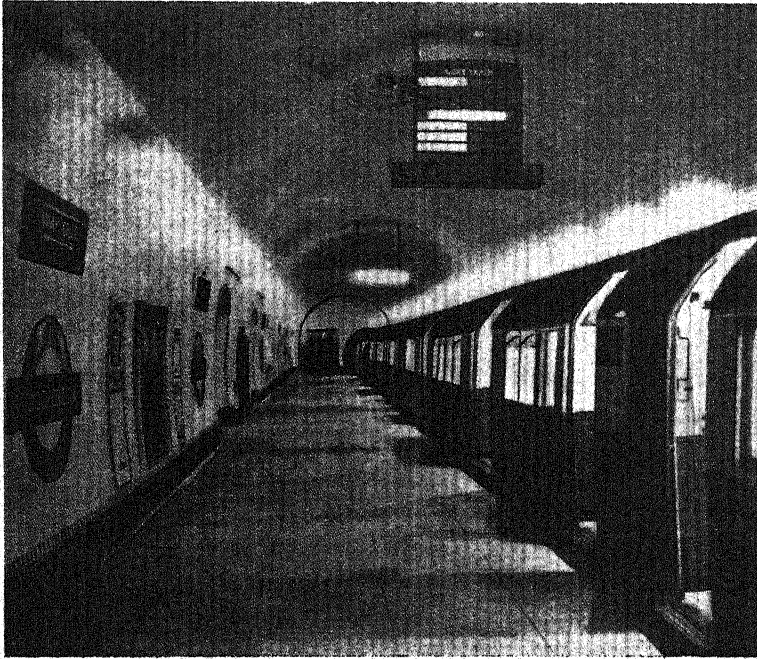
लंदन के नीचे ज़मीन के भीतर चलनेवाली रेल के एक स्टेशन का दृश्य

इन सुरंगों में ताज़ी हवा पहुँचाने के लिए जो शैफ़्ट खोदे जाते हैं वे एकदम सीधी रेखा में रखे जाते हैं, और फिर इन्हीं के सहारे सुरंग को सीधी रेखा में खोदते चले जाते हैं। प्रत्येक शैफ़्ट के बीच में पेन्डुलम (साहुल) लटकाकर साधते जाते हैं कि सुरंग कहीं टेढ़ी तो नहीं हुई जा रही है।

जहाँ-कहीं ऊँचे पहाड़ों के कारण शैफ़्ट नहीं गलाए जा सकते, वहाँ पर दोनों ओर की सुरंगों को एक सीध में रखने के लिए ज्योतिषशास्त्र का एक यंत्र 'ट्रान्ज़िट इन्स्ट्रूमेण्ट' काम में लाते हैं। इस यंत्र में एक दूरबीन भी लगी होती है। सुरंग के प्रत्येक प्रवेश-द्वार के सामने ही मज़बूत कंकरीट सीमेन्ट के चौरस प्लैटफ़ार्म पर एक छोटी-सी वेधशाला स्थापित कर लेते हैं। तब बीच में पहाड़ की चोटी पर भी उसी सीध में एक वेधशाला बना लेते हैं। दोनों सिरों की दूरबीन को इस बीचवाली वेधशाला की दूरबीन से साध लेते हैं, ताकि तीनों दूरबीनें एक सीधी रेखा में हों। फिर दूरबीन के धरातल को बिना दाहिने-बाएँ मोड़े हुए नीचे को सावधानी के साथ इतना झुकाते हैं कि उसका झुकाव सुरंग के ढाल के साथ ठीक-ठीक मिल जाय। अब इसी दिशा की सीध में सुरंग को खोदते जाते हैं। सुरंग ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है, त्यों-त्यों सुरंग के भीतर भी वेधशाला की दूरबीन की सीध में अन्य दूरबीनें खड़ी करते जाते और उन्हें खुदाई के साथ-साथ बराबर एक-दूसरे से साधते जाते हैं।

लम्बी सुरंग के अन्दर ताज़ी हवा पहुँचाने का प्रबन्ध भी विशेष रूप से करना पड़ता है। रेल की सुरंगों में जगह-जगह पर बने हुए शैफ़्ट से धुआँ आदि निकल जाता है, और धुएँ के ऊपर खिंच जाने से सुरंग के प्रवेश-द्वारों से ताज़ी हवा सुरंग में तेज़ी के साथ प्रवेश करती है। लन्दन की ट्यूब रेलवे की सुरंगों में बिजली के पंखों से ताज़ी हवा भीतर पहुँचाई जाती है। लन्दन की इन सुरंगों की कुल लम्बाई ७३ मील है। सुरंगों का इतना लम्बा जाल अन्यत्र कहीं नहीं है। सिम्पलन टनल में तो मुख्य टनल के ऊपर एक सँकरी सुरंग केवल हवा की निकासी के लिए ही बनाई

गई है। सेंट गोथार्ड का एक प्रवेश-द्वार दूसरे द्वार की अपेक्षा काफ़ी ऊँचे धरातल पर है, अतः एक ओर आकाश की हवा का दबाव कम, और दूसरी ओर बहुत ज़्यादा है; फलस्वरूप इस सुरंग में अपने आप हवा की एक धारा एक प्रवेश-द्वार से दूसरे प्रवेश-द्वार को बराबर चला करती है।

अमेरिका की सुरंगों का निर्माण योरप की अपेक्षा देर में हुआ। ग्रेट नार्थर्न रेलवे पर साउथ डकोटा में ८ मील लम्बी कैस्केड टनल अभी हाल में बनकर तैयार हुई है। १६२५ में इसकी खुदाई आरम्भ हुई थी और तीन वर्ष के भीतर यह पूरी हो गई। योजना के अनुसार अवधि के भीतर काम समाप्त करने के लिए इञ्जीनियरों ने पहले एक नमूने की सुरंग खोदी ताकि यह मालूम हो जाय कि पहाड़ की चट्टान जगह-जगह पर किस क़िस्म की है। फिर इसी नमूने की टनल को भेदते हुए प्रत्येक १५०० फ़ीट के फ़ासले पर ऊपर से शैफ़्ट गलाए गए। रास्ते में इन्हीं शैफ़्टों पर ११ जगह एक ही साथ इञ्जीनियरों ने खुदाई का काम शुरू किया था। नमूने की टनल के रास्ते से खुदाई का सामान, पानी और ताज़ी हवा अन्दर पहुँचाए जाते थे।

न्यूयार्क आदि पूर्वी तट के शहरों को राकी पर्वतमाला के पश्चिम की ओर के प्रान्तों से मिलानेवाली रेलगाड़ियों को पहले रॉकी पर्वतों के ऊँचे-ऊँचे दर्रों में से होकर गुज़रना पड़ता था। ऊँची चढ़ाई और ज़बर्दस्त ढाल की परेशानी भी कुछ कम न थी। अकेली एक ट्रेन खींचने के लिए चार-चार पाँच-पाँच इंजिन काम में लाने पड़ते थे। ट्रेन की रफ़्तार भी बहुत कम थी। चढ़ाई पर एक जगह ६० मील रास्ता तय करने में १४ घण्टे लग जाते थे। ६॥ मील प्रति घण्टे के हिसाब से ट्रेन रेंगती हुई आगे बढ़ती थी। फिर पर्वत-श्रेणी पर रेलवे लाइन दो मील तक टिन की छत से ढकी हुई थी, ताकि ओले और बर्फ़ का ढेर लाइन पर न जमा हो जाय! इस सुरंग के खुद जाने पर ट्रेन की ढाई हज़ार फ़ीट की चढ़ाई कम हो गई।

सैनफ्रैन्सिस्को पुल के सिलसिले में यर्बा-ब्यूना द्वीप की चट्टान में जो सुरंग खोदी गई थी, उसके खोदने का ढंग भी निराला था। पहले सुरंग की दीवालों के लिए चट्टान में खोदकर सँकरी-सी जगह बना ली गई थी। तदुपरान्त सुरंग की मेहराब तैयार की गई और तब बीच की चट्टानें संकुचित वायु की बर्मी से खोदकर निकाल ली गई। इस प्रकार इस सुरंग के निर्माण में एकदम विलोम क्रिया का प्रयोग किया गया था।

अमेरिका में पानी ले जाने के लिए भी कई एक लम्बी सुरंगें बनी हुई हैं। न्यूयार्क शहर के लिए ३० मील के फ़ासले से कार्टन झील से सुरंग के रास्ते से पानी आता है। इस सुरंग की दीवालों में पक्की ईंटें जड़ी हुई हैं। इसकी लम्बाई ३१ मील है, तथा इसका व्यास १२॥ फ़ीट है। अक्सर नदी की धारा फेरने के लिए भी सुरंगें बनाई जाती हैं। चौथी शताब्दी में एशिया माइनर में इसी ढंग की एक सुरंग द्वारा नदी का रास्ता बदला गया था। आधुनिक काल में अमेरिका और फ्रान्स में कई एक सुरंगें नदियों को एक ख़ास रास्ते पर रखने के लिए बनाई गई हैं।

इञ्जीनियरिंग के इस उन्नत युग में इंगलिश चैनेल के आरपार सुरंग खोदने की बात भी सोची गई है। १८०२ में एक फ्रेञ्च इञ्जीनियर ने पहली बार इंगलिश चैनेल के नीचे सुरंग खोदने की स्कीम बनाई थी, किन्तु इतने में फ्रान्स और इङ्गलैण्ड के बीच युद्ध छिड़ गया और वह स्कीम ताक पर रक्खी रह गई। फिर १८५६ में इस स्कीम पर पुनः विचार किया गया। महारानी विक्टोरिया ने भी उस स्कीम को काफ़ी पसन्द किया था और १८८० में फ्रांस तथा इङ्गलैण्ड की गवर्नमेण्ट की सम्मिलित राय से सुरंग की खुदाई का काम आरम्भ किया गया। फ्रेंच चैनेल कम्पनी ने सैन्गेट पर एक गहरा शैफ़्ट गलाया और उसके पेंदे से एक मील की दूरी तक चैनेल के अन्दर लम्बी सुरंग खोद भी ली गई। दूसरे किनारे पर डोवर में भी ब्रिटिश इञ्जीनियरों ने कच्चे लोहे के शैफ़्ट १६० फ़ीट की गहराई तक ज़मीन में धँसाए और लगभग १॥ मील की दूरी तक सुरंग खोदी गई। इंगलिश चैनेल में ७६०० स्थानों पर पानी का थाह लिया गया तथा ३०० जगहों से पेंदे की मिट्टी यह देखने के लिए निकाली गई कि वहाँ का धरातल किस ढंग की मिट्टी से बना है। इतने में १८८२ ई० में ब्रिटिश युद्ध-विभाग ने उस स्कीम का विरोध किया और सुरंग का खोदा जाना वहीं रुक गया। ब्रिटिश युद्ध-विभाग के पदाधिकारियों का कहना था कि युद्धकाल में यह सुरंग हमारे लिए भारी विपद का कारण बन सकती है।

उक्त स्कीम के अनुसार इस टनल की लम्बाई ३१ मील होगी। उसका दो-तिहाई भाग समुद्र की सतह से २६० फ़ीट नीचे होगा—अर्थात् पेंदे की ज़मीन से ६५ फ़ीट नीचे। इस टनल में एक-दूसरे से ५० फ़ीट के फ़ासले पर लगातार साथ-साथ दौड़ती हुई दो सुरंगें बनेंगी। प्रत्येक का व्यास २५ फ़ीट होगा। इसके तैय्यार होने में कुल ५ वर्ष लगेंगे और ढाई-तीन करोड़ पौण्ड ख़र्च होंगे।

इटली में कला का आरम्भ

इट्रस्कन या प्राक्-रोमन कला

मिस्र से ग्रीस, और ग्रीस से रोम की ओर अग्रसर होना स्वाभाविक ही है। जैसा कि हम पिछले प्रकरणों में देख चुके हैं, ग्रीक कला को आदि प्रेरणा-शक्ति मिस्र ही से प्राप्त हुई, और किसी-किसी आलोचक की राय में तो ग्रीक लोग कई बातों में मिस्र की ऊँचाई तक पहुँच ही नहीं पाए। रोमन कला के बारे में तो यह बात शतप्रतिशत लागू होती है। रोम को ग्रीस ही से कला-प्रेरणा मिली, परन्तु अपने गुरू ग्रीस के समकक्ष वह नहीं पहुँच पाया। क्यों? आइए, इस और आगे के लेखों में इसका दिग्दर्शन करें। साथ ही इटली में कला का आरंभ करनेवाले उन अद्भुत इट्रस्कन लोगों का भी परिचय प्राप्त करें, जिनका संबंध एशिया से बताया जाता है।

अंग्रेज़ी के सुप्रसिद्ध कवि बायरन ने अपनी प्रायः उद्धृत होनेवाली पंक्ति 'वह गौरवशाली ग्रीस और वह भव्य रोम !' ('The Glory that was Greece and the Grandeur that was Rome') में बहुत ही सुन्दर ढंग से ग्रीक और रोमन कला की आधारभूत विशेषताओं का सूत्र रूप में परिचय दे दिया है। रोमन कला का विवेचन करने से पहले यह उचित जान पड़ता है कि हम उस कला-प्रेरणा के प्रधान लक्षणों का अन्वेषण करें जो कि प्राचीन संसार की इन दो प्रसिद्ध जातियों की क्रियात्मक अभिव्यंजनाओं के मूल में थी।

ग्रीक कला का प्रधान लक्षण प्रत्येक वस्तु को देवत्व की कोटि पर या आदर्श रूप में गौरवान्वित करने के प्रयत्न में निहित है। यह कला प्रकृति की महान् शक्तियों को आदर्श रूप में गौरवान्वित करती और उनको देवी-देवताओं का व्यक्तित्व प्रदान कर देती है। राष्ट्रीय महापुरुषों को उसने अतिमानव और अर्द्ध-देवों के रूप में चित्रित किया है, यहाँ तक कि सुदृढ़ शरीरवाले कसरती नौजवानों को भी उनके शारीरिक सौंदर्य की पूर्णता के लिए अर्ध-देवों की कोटि में रख दिया है। इतना ही नहीं, ऋतुओं, नृत्य-समारोहों और वृक्षों तक का ग्रीक दन्त-कथाओं में रूपकमय वर्णन किया गया है और उन्हें वहाँ की कला में शाश्वत स्थान दिया गया है। ग्रीक कला में हम जिधर भी दृष्टि डालें, सर्वत्र देवों और देवसदृश स्त्रियों तथा पुरुषों का इस लगन के साथ माहात्म्य-चित्रण पाते हैं, कि जिसे दूसरे किसी अधिक उपयुक्त शब्द के अभाव में 'सौन्दर्य-पूजा' के नाम से हम अभिहित कर सकते हैं। सौन्दर्य-पूजा, जिसमें पूर्णता, आदर्श पूर्णता, विचार की परिपूर्णता, कार्य की परिपूर्णता, सामंजस्य की परिपूर्णता और रूप की परिपूर्णता की उपासना का भाव निहित है और जिसके साथ आनन्द की भावना, सहज हर्षातिरेक, आत्मानुभूति के प्रथम आश्चर्यमय बोध की भावना मिश्रित है—ऐसी सौन्दर्यपूजा ग्रीक कला का मूल स्रोत जान पड़ती है। ग्रीक लोग सौन्दर्य को कितना ऊँचा महत्त्व देते थे और उसके आगे दूसरे गुणों को किस प्रकार तुच्छ समझते थे, इसका हमें एथेन्स की रूपवती नर्तकी फ्राइनी (Phryne) की प्रसिद्ध कथा से स्पष्ट रूप से पता चलता है। फ्राइनी को गिरफ़्तार कर उस पर दुश्चरित्रता के अपराध में नगर के निर्वाचित पंचों की अदालत में मुक़दमा चलाया गया था और उसे प्राणदण्ड की सजा सुना दी गई थी। उसके प्रेमी ने माननीय न्यायाधीशों से उसके लिए अपनी शक्ति भर कहा-सुना और उस पर तरस खाने की प्रार्थना की, किन्तु न्यायाधीश कठोर बने रहे और अपने निश्चय पर पुनर्विचार करने के लिए तैयार न हुए। निराश होकर वह दौड़कर वहीं उपस्थित उस कमनीय अपराधिनी के पास पहुँचा और उसके रेशमी परिधान को फाड़कर विचारकों को ललकारते हुए उसने कहा कि यदि अब भी तुम्हें सन्देह हो कि ऐसे सुन्दर शरीर में ऐसा कुत्सित पाप रह सकता है, तो भले ही तुम इसे अपराधिनी करार दो ! एरियोपैगस (विचारक-मण्डली) के सम्मानित

बुजुर्गों ने अपनी दाढ़ियाँ खुजलाते हुए प्रश्नसूचक दृष्टि से एक दूसरे की ओर देखा, साथ ही छिपकर एक निगाह उस पूर्णयौवना अपराधिनी के उत्कृष्ट शारीरिक सौन्दर्य पर भी डाली। उन्होंने आपस में सलाह-मशविरा शुरू किया। बिना किसी नतीजे पर पहुँचे वे तर्क-वितर्क करते रहे और उसके बाद एक ठंडी आह के साथ उन्होंने उसकी रिहाई की आज्ञा दे दी! फ्राइनी का प्रेमी तथा उत्साही वकील प्रैक्सिटिलीज़ नामक प्रसिद्ध मूर्त्तिकार था, जिसने बाद को सुदृढ़ संगमरमर की एक मूर्त्ति में अपनी प्रेमिका को प्रेम की देवी वीनस के रूप में सदा के लिए अमर कर दिया।

सौन्दर्य के आगार शान्तिपूर्ण ग्रीक मन्दिरों में रमणीय भावपूर्वक प्रतिष्ठित ग्रीस के पौराणिक आदर्श से युक्त रचनाओं से जब हम एक क्षण को अपनी दृष्टि हटाते हैं, तो सहसा रोमन कला में पाई जानेवाली भव्य विशालता तथा दर्पपूर्ण तड़कभड़क से अभिभूत हो उठते हैं। ग्रीक कला की विशेषताओं—सरलता, आकर्षण तथा मनोहारिता के साथ संयमित शक्ति के संयोग—के दर्शन इस कला में नहीं मिलते। न यहाँ व्यक्तिगत भावनाओं, व्यक्तित्व की उपासना तथा व्यक्तिगत सम्बन्धों का ही चित्रण हमें मिलता है। इनकी जगह हम एक विशद सामाजिक चेतना, दीर्घकाय आकारों की अभिव्यक्ति, विजयोल्लसित वैभव, राजसी भव्यता तथा राजनीतिक प्रभुता को चित्रित पाते हैं। जिस तरह 'सौन्दर्य' ग्रीक कला का प्रधान लक्षण है, उसी तरह 'शक्ति' रोमन कला का प्रधान लक्षण कहा जा सकता है। शक्ति-प्रदर्शन तथा धूम-धाम और शानशौकत, जो कि रोम के अन्य देशों पर प्रभुत्व स्थापित करने के स्वाभाविक परिणाम थे, उसके दीर्घ इतिहास की प्रत्येक काल की कला में अनिवार्य रूप से प्रतिबिम्बित हैं। इट्रूरिया की विजय के बाद से रोम अपने पड़ोस के सभी नगरों को निर्दयतापूर्वक आत्मसात् करता चला गया और अंततोगत्वा उस स्थिति में पहुँच गया जबकि सारे प्रायद्वीप पर उसका अधिकार हो गया। अपनी शक्ति-प्रसार की अतृप्त तृष्णा को शान्त करने के लिए अब उसने अफ़्रीका के प्रदेशों पर अधिकार करना आरम्भ किया। जर्मेनिया (आधुनिक जर्मनी), गॉल (आधुनिक फ्रांस), डालमेशिया, ग्रीस, मिस्र, लीबिया—यहाँ तक कि सुदूर ब्रिटेन तक का सारा प्रदेश रोम की छत्रछाया में आ गया और रोमन लोगों की शासन-प्रतिभा ने सभी विजित प्रदेशों में रोमन राज्य को सुदृढ़ बना दिया। रोमन झण्डे के नीचे आये हुए देशों में शान्ति विराजने लगी, और इन देशों का धन लगातार होनेवाले सोने के निर्यात के रूप में खिंचकर रोम को जाने लगा। कैपिटोलाइन पहाड़ियों पर गड़ेरियों की छोटी-सी बस्ती से विकसित होकर इस प्रकार रोम अमरपुरी (Eternal City) कहलाने लगा और तमाम राष्ट्रों और देशों का जनक माना जाने लगा।

रोमन साम्राज्य की लगातार वृद्धि के साथ सैनिक स्थापत्य की आवश्यकता भी अनुभव की गई। सड़कों और पुलों, मेहराबदार ऊँचे बाँधों और नहरों, क़िलों और भव्य प्रासादों का बनना आरम्भ हुआ। रोम के सैनिक स्थापत्य-विशारदों ने बड़ी-बड़ी स्थापत्य-सम्बन्धी योजनाओं में हाथ लगाया, जिनमें से अधिकांश आज भी एशिया, योरप और अफ़्रीका के विभिन्न भागों में विद्यमान हैं। नगर-योजना और नगर-निर्माण को, जिनके सम्बन्ध में ग्रीक लोगों को भी अधिक जानकारी नहीं थी, रोमन लोगों ने एक ललित कला का रूप दे दिया और नागरिक स्थापत्य रोमन कला की एक प्रमुख विशेषता बन गया। विजयी सेनापतियों के नायकत्व में साम्राज्य की वृद्धि के साथ-साथ उनकी सफलता के लिए हर्ष मनाने और जनता को यह दिखलाने के लिए कि शासक उनके लिए क्या कर रहे हैं, रोम तथा साम्राज्य के दूसरे भागों में विजय-तोरण और स्तम्भ खड़े किये जाने लगे। रोमांचक घटनाओं में दिलचस्पी रखनेवाले कर-दाताओं की परितुष्टि के लिए चतुर सम्राटों ने बड़े-बड़े क्रीड़ाभवन और रंगभूमियाँ बनवाना शुरू किया, जहाँ मनुष्य मनुष्य के साथ, पशु पशुओं के साथ, और प्रायः मनुष्य पशुओं के साथ तथा कभी-कभी पशु निरस्त्र मनुष्यों के साथ लड़ा करते थे। पतन के दिनों में बेकार बातों में समय गँवानेवाले रोम के नागरिकों के मनोरंजन के लिए सार्वजनिक स्नानगृह, सभागृह और प्रार्थनागृह बनवाए गए, जहाँ हर प्रकार के संशयपूर्ण व्यापार होते थे, जैसा कि पेट्रोनियस और जुवेनल तथा अन्य लेखकों की कृतियों से पता चलता है। धनियों के नये-नये विलास और आत्म-विज्ञापन का सर्वत्र प्रदर्शन होता था और यह लोगों का सामान्य विश्वास हो गया था कि ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो धन के द्वारा ख़रीदी न जा सके।

किन्तु उपरोक्त उक्ति केवल एक सीमा तक ही सत्य है, क्योंकि धन की कितनी भी मात्रा प्रतिभा को न तो उत्पन्न कर सकी है और न कर सकती है। जब तक सृष्टिकर्त्ता द्वारा किसी व्यक्ति में प्रतिभा के बीज न बोये गये हों, चाहे जितना धन ख़र्च किया जाय उसे प्रतिभावान नहीं बनाया जा सकता। व्यस्त रोमवासियों को कला के सम्बन्ध में चिन्तन करने का अवकाश कहाँ मिलता! अतएव उन्हें अपने देवालयों,

घरों और स्त्रियों के श्रृङ्गार की सामग्री तैयार करने के लिए ग्रीक कलाकारों, मूर्तिकारों और कारीगरों को बाहर से बुलाना पड़ता था। ग्रीक की अद्भुत संगमरमर की कला-कृतियाँ और मिस्र की पाषाण में निर्मित सुस्पष्ट आकृतियाँ रोमवासियों को श्रद्धा और आश्चर्य के भाव से भर देती थीं, क्योंकि ये चीज़ें ऐसी थीं जिनका निर्माण रोमन विजेताओं के वश के बाहर की बात थी! ग्रीक और मिस्री मूर्तियाँ तथा मिस्र के चतुष्कोण स्तम्भ विजयी सैनिकों के वापस लौटने पर रोम में प्रवेश करते थे और विजय-सम्बन्धी जुलूसों में पकड़े गए बन्दियों और लूटी गई सामग्री के साथ उनका भी सार्वजनिक प्रदर्शन किया जाता था। लोगों में सौन्दर्य की पिपासा जग चली थी, किन्तु उसकी तृप्ति के साधन उनके घर में न थे। अतएव रोमन लोगों ने विजित प्रदेशों की कलाकृतियों को हर लाने और वहाँ से कला के नाम पर जो भी निम्न कोटि की चीज़ें उन्हें दी जायँ उनसे ही अपने घरों को सजाने की नीति ग्रहण की। रोम में ग्रीक लोगों की मध्यम श्रेणी की कलाकृतियों का इकट्ठा होना स्वयं रोम के कला सम्बन्धी विकास पर हानिकर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता था और यही कारण है कि रोमन कला के सर्वोत्तम काल की कृतियाँ भी ग्रीस की आरम्भिक कलाकृतियों के निर्जीव अनुकरण से आगे नहीं जातीं।

मूर्तिकला का एक अंग अवश्य था, जिसमें रोमन लोगों ने उल्लेखनीय उन्नति की थी, और यह था सजीव मानव-मूर्ति का अंकन। मूर्ति-अंकन का यह अंग, जो ग्रीस में उसकी राष्ट्रीय समृद्धि के ह्रासावस्था के दिनों में आरम्भ हुआ था, रोमन कला में उत्कृष्ट सजीवता के साथ पुनर्जीवित दीख पड़ता है। रोम ने प्रतिभावान् सूरमाओं की जिस नक्षत्र-मण्डली को जन्म दिया था, कृतज्ञ नागरिक उनकी स्मृति को कला की सहायता से चिरस्थायी बनाना चाहते थे। अतएव रोमन कला में जो मानव-मूर्ति-अंकन सम्बन्धी अनेक कृतियाँ पाई जाती हैं, उनमें रोम के प्रत्येक क्षेत्र के उल्लेखनीय पुरुषों की मानों एक पूरी सचित्र चारुचरितावली अंकित है।

इट्रस्कन कला का एक नमूना
शस्त्रधारी योद्धा की यह मूर्ति काँसे की बनी हुई है और प्राचीनतम इट्रस्कन युग की है।

यहाँ पर विचारशील पाठक सम्भवतः यह प्रश्न करेंगे कि इससे पूर्व रोम की कला का क्या इतिहास है? क्या रोम की कला के विकास का कोई प्रागैतिहासिक, आदिम या अतीत काल नहीं था? रोम की कला के ये युग भी अवश्य थे। किन्तु रोमन कला के प्रागैतिहासिक युग के सम्बन्ध में हमें निश्चित रूप से कुछ ज्ञात नहीं है। हाल के स्थापत्य-पुरातत्त्व-सम्बन्धी अनुसन्धानों से रोम के आरम्भिक निवासियों के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें प्रकाश में आई हैं। रोम के ये आदिमवासी आजकल के पोलीनेशियन लोगों की भाँति दलदली ज़मीन में लट्ठे गाड़कर बनाये गए घरों में रहते थे। ये लोग असभ्य नहीं थे और आदिम युग का परिष्कृत जीवन व्यतीत करते थे। किन्तु सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से ये उपेक्षणीय थे। रोम में रहनेवाले वे आरम्भिक प्राणी, जिनमें वस्तुतः कलात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है, स्वयं रोम के ही निवासी न थे, बल्कि एशियाई या आयोनिक ग्रीस से आये हुए लोग थे। इस लेख के शेष भाग में हम इन्हीं लोगों का उल्लेख करेंगे, जो अपने आदि गृह इट्रूरिया के नाम पर 'इट्रस्कन' कहलाते हैं।

ये इट्रस्कन् लोग कौन थे, हम निश्चित रूप से इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकते। जाति सम्बन्धी दूसरे अनेक प्रश्नों की भाँति इस प्रश्न का उत्तर भी तब तक सम्भवतः नहीं दिया जा सकेगा जब तक कि इट्रस्कन अभिलेख ठीक-ठीक न पढ़ लिये जायँ। यह सच है कि इन अभिलेखों के अक्षर पढ़ लिये गए हैं, किन्तु जिस भाषा में ये अभिलेख लिखे गए हैं वह पृथ्वी पर से इस प्रकार पूर्णतया लुप्त हो गई है कि इन अभिलेखों का अर्थ नहीं लगाया जा सका है। किसी दिन जब कि भाषाविद् लोग इट्रस्कन् शब्दों का अर्थ

लगा सकेंगे, तब हम लोग इन प्राचीन प्राणियों का घनिष्ठ परिचय प्राप्त कर सकेंगे। तब तक हमें इतिहास के पिता हेरोडोटस की बातों से ही सन्तुष्ट होना पड़ेगा, जिसने लिखा है कि इट्रस्कन लोग मूलतः एशिया से आए थे और जीविका के श्रेष्ठतर साधनों की खोज में लीडिया से एशिया माइनर होते हुए इटली में आ बसे थे। हेरोडोटस के इस वक्तव्य को ग्रीस के एक दूसरे इतिहासकार डायोनाइसियस ने, जो ई० पू० पहली शताब्दी में सम्राट् आगस्टस के राज्यकाल में हुआ था, अप्रामाणिक बतलाया है। रोम की प्राचीनता पर लिखित अपने २२ भागोंवाले महान् ग्रन्थ में उसने यह आश्चर्यजनक मन्तव्य प्रकट किया है कि हेरोडोटस का यह कथन कि इट्रूरिया के निवासी मूल रूप में एशियाई थे बिल्कुल निराधार है। उसकी राय में इट्रूरिया के लोग योरोपीय नस्ल के ही थे, और हमेशा से इटली में ही रहते आए थे। इट्रूरिया-निवासियों के पूर्वजों के सम्बन्ध में ये परस्परविरोधिनी धारणाएँ तब तक प्रचलित रहीं जब तक कि पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इट्रूरिया की भूमि की खुदाई न की और इस प्रकार भाग्यवश असली समाधान उन्हें न मिल गया।

मोटे तौर पर टाइबर नदी (रोम के समीप), आर्नो नदी (फ्लोरेन्स के समीप) और अपेनाइन पर्वतमाला के बीच का सभी प्रदेश इट्रूरिया के अन्तर्गत था। इट्रूरिया कभी एक शक्तिशाली राष्ट्र था, जिसके समुद्री बेड़ों का पश्चिमी भूमध्य-सागर पर प्रभुत्व था और जिसने कारथेज-निवासियों के विरुद्ध कई लड़ाइयों में सफलता प्राप्त की थी। जब इट्रूरिया में खुदाई हुई तो पुरातत्ववेत्ताओं को पता चला कि वहाँ की सभी पुरानी कलाकृतियों पर एशिया की कारीगरी की समानता की बहुत गहरी छाप है। उनमें निहित भावनाएँ, उन पर की गई कारीगरी और उनकी शैली स्पष्टतया एशियाई है तथा उनकी मूर्त्तियों व सोने और काँसे के काम में बेबिलोनिया या मसोपटामिया के मैदान के दूसरे भाग की कारीगरी के साथ स्पष्ट सादृश्य पाया जाता है। उभड़े हुए भित्तिचित्रों में वर्णित विषयों में भी एशियाई कृतियों से गम्भीर सादृश्य पाया जाता है। मृगया के यथार्थवादी दृश्यों के चित्रण की वही विशेष प्रवृत्ति हमें यहाँ भी देख पड़ती है, जो असीरियन कला में बहुतायत के साथ मिलती है। मेंड़ के गुर्दे और आँतों द्वारा उसी प्रकार के शकुन-संस्कार की प्रथा यहाँ भी हमें मिलती है जैसी कि कैल्डिया में प्रचलित थी, यद्यपि ईजियन सागर की सीमा पर या स्वयं ग्रीस प्रायद्वीप में बसनेवाली जातियों में कहीं भी वह नहीं पाई जाती। इटली के शेष भाग की कला का कोई सम्बन्ध आयोनिया, लीडिया या क्रीट और माइकीनि के साथ नहीं पाया जाता। ऐसी अवस्था में प्राचीन इट्रूरियन लोगों ने अपने मातृप्रदेश के साथ किसी-न-किसी प्रकार सम्पर्क अवश्य बनाये रखा होगा. अन्यथा वे सैकड़ों मील दूर रहते हुए इन सांस्कृतिक सम्बन्धों को बनाये रखने में इतने दिनों तक समर्थ न होते।

इट्रूरिया में धनुषाकार या मेहराबदार छत के निर्माण की कला के अस्तित्व से इट्रूरिया और असीरिया में सांस्कृतिक सम्बन्ध होने की पुरातत्वविदों की विचक्षण धारणा और भी पुष्ट होती है। मानव इतिहास के अत्यन्त आरम्भिक काल में ही पश्चिमी एशिया के लोग धनुषाकार छत बनाने की कला से परिचित थे। न तो ग्रीक लोग और न उनके गुरु मिस्रवाले ही धनुषाकार छत के बारे में कुछ जानते थे—वे केवल चौरस छतों का ही प्रयोग करते थे। यह अनुमान किया जाता है कि चूँकि वे बड़े-बड़े पत्थरों को ही घर बनाने के काम में लाते थे और ईंट का प्रयोग नहीं करते थे इसीलिए वे धनुषाकार छत का आविष्कार नहीं कर पाए। इसी प्रकार असीरिया और बेबिलोनिया के लोगों ने, जो केवल ईंट से काम लेते थे पत्थर से नहीं, धनुषाकार छतें बनाने की ओर ही विशेष ध्यान दिया। "इट्रूरिया में अनेकों धनुषाकार छतों का पाया जाना—जबकि इटली के दूसरे भागों में रहनेवाले लोग, जिन्होंने ग्रीसवालों से कला की दीक्षा ली थी, भवन-निर्माण की इस पद्धति से एकदम अपरिचित थे—इस कथन के पक्ष में अन्तिम प्रमाण है कि इट्रस्कन लोग एशियाई जाति के थे और ट्राय के युद्ध (मोटे तौर पर ई० पू० लगभग १००० वर्ष) के बाद शीघ्र ही अपने मूल निवास-स्थान को छोड़कर इटैलियन प्रायद्वीप में टाइबर नदी के ठीक उत्तर के हिस्से में आ बसे थे।"

प्राचीन इट्रस्कन लोगों के भवनों की कलात्मक परिष्कृतियों से यह स्पष्ट है कि वे परिष्कृत व्यवहार और उत्तम रुचिवाले प्राणी रहे होंगे। किन्तु अधिकांश कलाप्रिय जातियों की भाँति उनमें संगठन अथवा राजनीतिक दृढ़ता का अभाव था। उनके विभिन्न नगर-राज्य सदैव एक दूसरे के विरुद्ध रहा करते थे, अतएव जब रोमवासियों और इट्रस्कन लोगों में संघर्ष आरम्भ हुआ तो रोमन लोगों के ऊँचे दर्जे के राजनीतिक कौशल और एकता के मुक़ाबले इट्रस्कन लोग एकदम न टिक सके। एक के बाद दूसरा शहर रोम के अधिकार में आता गया, पर विलासप्रिय इट्रस्कन आपस

में ही लड़ते रहे, यहाँ तक कि ई० पू० तीसरी शताब्दी के अन्त तक समूचे इट्रूरिया प्रदेश पर रोम का पूर्ण आधिपत्य स्थापित हो गया।

इट्रूरिया की विजय से न केवल रोम की प्रतिष्ठा में ही अपूर्व वृद्धि हुई, बल्कि उसकी व्यापारिक समृद्धि और वैभव का भी विस्तार हुआ। प्राचीन काल से इट्रूरिया अपनी ताँबे की खानों के लिए प्रसिद्ध था और निकटवर्त्ती एल्बा द्वीप में लोहे की बहुतायत थी। इट्रस्कन लोगों की लौह आदि के व्यवसायों में दक्षता प्रसिद्ध थी, अतएव उनके साम्राज्य को जब रोमन लोगों ने अपने साम्राज्य में मिला लिया तो रोम भी तीव्र गति से व्यवसाय-प्रिय होने लगा।

अपनी समस्त कलात्मक परिष्कृतियों के बावजूद सारी इट्रस्कन कला में एक प्रकार का अशोभनीय और भयोत्पादक भाव पाया जाता है। इसमें वह सर्वांगीण माधुर्य और आकर्षण नहीं मिलता जैसा कि हम ग्रीक लोगों की कला में पाते हैं। आरम्भिक ग्रीक मूर्तिकला में पाई जानेवाली रहस्यमय मुस्कान इट्रस्कन कला में उसके बहुत दिनों बाद भी विद्यमान पाई जाती है, जबकि अपने ही जन्मस्थान में वह कभी की विलुप्त हो चुकी थी। इट्रस्कन कलाकारों द्वारा निर्मित्त जो मानव प्रतिमाएँ हमें उपलब्ध हैं, उनको देखकर यह भान होता है कि प्राचीन असीरियन लोगों की कठोर सजीवता अब भी अपने इट्रूरिया के वंशजों की मुखाकृति में एक हल्की-सी छाप छोड़े हुए है। किन्तु इसके विपरीत इट्रस्कन स्त्रियों की मुखाकृति में गिद्ध जैसी नासिकावाली अपनी परदादियों की अपेक्षा कहीं अधिक सरलता और सुकुमारता मिलती है। सुखी गृहस्थ-जीवन—विशेषतया सुखी वैवाहिक जीवन—के (जो कि उत्तरकाल के साम्राज्यवादी रोम में विलुप्त-सा हो चला था) इट्रस्कन कला में पर्याप्त रूप में प्रमाण मिलते हैं और उनके असाधारण शवाधारों* (Sarcophagus) और टेराकोटा की मूर्त्तियों में हम बहुधा पति-पत्नी को मृत्यु में भी एक दूसरे से संयुक्त पाते हैं।

माइकीनियन लोगों की तरह इट्रस्कन लोग भी मृत व्यक्तियों की आकृति का एक हूबहू नकली आवरण बनाते थे। बहुत सम्भव है कि यह मिस्रवालों की प्रथा का अनुकरण रहा हो, जो कि मृत व्यक्तियों की मोमियाई के बाहरी आवरण के ऊपर उनके शिरोभाग की मूर्त्ति अंकित करते थे। यह प्रथा ग्रीक-मिस्री (Greco-Egyptian) काल में पूर्णता को पहुँच गई थी। इट्रस्कन लोगों द्वारा चलाई गई इस तर्ज़ की आगे चलकर उनके रोमन पड़ोसियों ने—विशेषकर धनवान् कुलीन नागरिकों ने—नक़ल की, जो इट्रस्कन पद्धति का अनुसरण करते हुए अब अपने पूर्वजों के मोम की मुखाकृति (mask) को अपने घरों के बीच के कमरों की दीवालों पर जड़ने के विचार से सुरक्षित रूप में रखने लगे। इट्रस्कन लोगों की यह प्राचीन प्रथा रोमनों के ग्रहण कर लेने के कारण आज के योरपीय लोगों में भी चली आई है। योरप में पारिवारिक
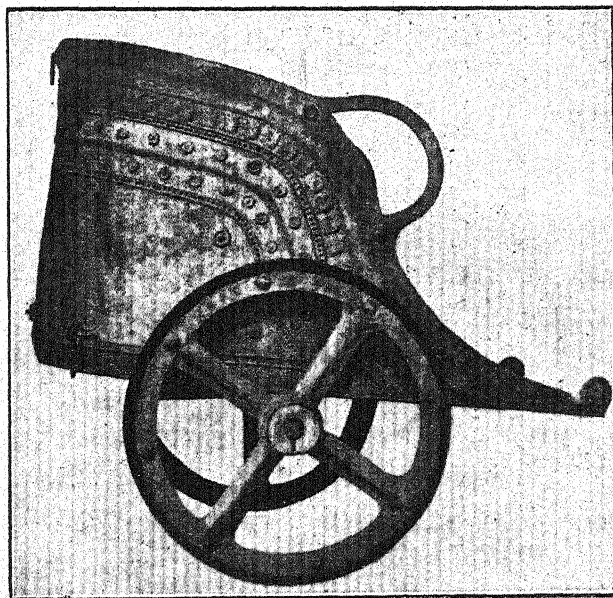
इट्रस्कन लोगों का एक रथ

यह संभवतः छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व का है और ब्रिटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित है। इट्रस्कन लोग धातु की वस्तुओं के निर्माण में बड़े निपुण थे। उनके ये रथ धातु के पत्तर से जड़े रहते थे और उन पर बड़ी बारीकी के साथ कलापूर्ण कारीगरी की जाती थी। ऊपर के रथ से भी अधिक सुंदर नमूने मिले हैं।

*Sarcophagus (सार्कोफेगस) **शब्द का अर्थ मांसभोजी पाषाण है, क्योंकि ग्रीक लोगों का विश्वास था कि कुछ क़िस्म के पत्थर मृत शरीर को बहुत शीघ्रता से खाकर समाप्त कर देते हैं, अतः वे ताबूत या शवाधार के काम के लिए अधिक उपयुक्त होते थे।**

चित्र भोजनगृहों की दीवालों पर अब भी उसी रूप में लगे रहते हैं, जिस रूप में कि रोमन लोगों के गृहों के बीच के कमरों की दीवालों पर सम्माननीय मृत व्यक्तियों की मुखाकृतियों की पंक्तियाँ जड़ी रहती थीं।

लगभग प्रत्येक अन्य प्राचीन जाति के समान पुराने ज़माने के इट्रस्कन लोग भी टेराकोटा (पकाई हुई मिट्टी) की कारीगरी में दक्ष थे। बहुमूल्य पत्थरों पर खुदाई के प्रचलन के पहले से ही मुलायम कच्ची मिट्टी में चीज़ों को गढ़कर मनुष्य ने अवश्य अपनी क्रियात्मक प्रवृत्तियों को विकसित होने दिया होगा—सम्भवतः जादू के कृत्यों के लिए—क्योंकि गीली मिट्टी को कड़े पत्थर की अपेक्षा काम में लाना बहुत अधिक सरल है। लेकिन कच्ची मिट्टी से बनी मूर्तियों के साथ यह कठिनाई थी कि कितना भी हो तो भी वे नाज़ुक ही रहती थीं और सूखते ही टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो जाती थीं। इसलिए अपने सांस्कृतिक इतिहास के आरम्भकाल में ही मनुष्य ने मिट्टी की मूर्त्तियों को आग में पकाकर उन्हें अधिक स्थायी बनाना सीखा। इस प्रकार पकाई हुई मिट्टी की उसकी कारीगरी के प्रमाण प्राचीन काल के मेक्सिको और पेरू से लेकर चीन और जापान तक दुनिया के प्रायः सभी भागों में मिलते हैं। स्वयं हमारे अपने देश में भी पकी हुई मिट्टी की कारीगरी के नमूने मोहन-जो-दड़ो, हरप्पा, नालन्द, पहाड़पुर, कौशाम्बी, बोधगया तथा अन्य अनेक स्थानों की खुदाई में बहुतायत से पाए गए हैं। इनमें अभी हाल ही में बनारस में राजघाट के पास पाए गए नमूने सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं।

टेराकोटा की कृतियाँ बहुत ही नाज़ुक होती हैं, अतएव इस माध्यम द्वारा बृहदाकार मूर्त्तियाँ तैयार करना अत्यधिक कठिन होता है। ग्रीक लोग सुप्रसिद्ध टनाग्रा के कारख़ानों में छोटे आकार की मूर्त्तियाँ बनाते थे। लेकिन ग्रीक लोगों द्वारा निर्मित्त टेराकोटा की कोई भी मूर्त्ति इट्रस्कन लोगों के 'प्रसिद्ध विला गायलियो शवाधार' (Villa Giulio Sarcophagus) अथवा न्यूयार्क के मेट्रोपालिटन म्यूज़ियम में रक्खी हुई योद्धाओं की मूर्त्तियों के आकार को नहीं पहुँच सकीं।

इट्रस्कन लोगों की मूर्त्तिकला में ग्रीक लोगों की भाँति स्वाभाविकता नहीं है। इसके बजाय, उनमें सदैव अलंकृत शैली के प्रदर्शन की प्रवृत्ति पाई जाती है, जो कि आधुनिक आलोचकों के अनुसार योरप की कला के इतिहास में अपना सानी नहीं रखती। शवाधारों की सजावट और पात्रों की चित्रकारी में पाये जानेवाले आभूषण और अलंकारों की भरमार और पहनाव की सामग्री से पता चलता है कि इट्रस्कन लोग अवश्य ही कलाप्रेमी एशियाई विचारों के लोग रहे होंगे। उनके मक़बरों में जो असली जवाहरात, धातु के पात्र तथा मूर्त्तियाँ पाई गई हैं, उनसे भी इसी बात की पुष्टि होती है। सुनहले वस्त्राभूषणों और कंठहारों से लेकर पच्चीकारी की हुई मंजूषा और धातु-निर्मित चारपाइयों तक धातु की कला के सम्पूर्ण क्षेत्र में इट्रस्कन लोग अत्यन्त दक्ष थे। एक सुसज्जित रथ की धातु की चद्दरों में प्राचीनकालीन दृढ़ता टपकती है। दर्पणों पर रेखाचित्रों का ऐसा निपुण प्रयोग हुआ है कि जिससे चौरस वस्तु पर उनके संस्थान-नैपुण्य का पता चलता है। घर को सजाने की सामग्री में भी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वस्तुओं से लेकर बड़ी-बड़ी वस्तुओं पर कारीगरी की गई है। इट्रस्कन अवशेषों में कसरत से पाई जानेवाली एक छोटे नमूने की मूर्त्ति काँसे के बड़े बर्त्तनों की मुठिया के रूप में काम में लाये जाने के लिए बनाई गई थी।

बहुत दिनों तक योरप के विद्वानों का विश्वास था कि पात्र-निर्माण और पात्र-चित्रकारी ग्रीक कला की नहीं, बल्कि इट्रस्कन कला की विशेषता है। इट्रूरिया के मक़बरों से कितने ही अच्छे-अच्छे नमूने मिले हैं, जिनमें वह प्रसिद्ध 'फ्राँशोआ पात्र' भी शामिल है जिसका चित्र हम पिछले अंक में दे चुके हैं। पुरातत्व-वेत्ताओं ने बिना किसी सन्देह के इन्हें स्थानीय इट्रस्कन कृति मान लिया था। इसमें सन्देह नहीं कि इनमें स्थानीय मिट्टी की बनी हुई चीज़ें भी थीं, ख़ासकर सुप्रसिद्ध 'बुकेरो नीरो' (bucchero nero) अर्थात् काले बर्त्तन, किन्तु सभी श्रेष्ठतम नमूने एथेन्स, चेल्सिस और कारिन्थ से ही आते थे।

इट्रस्कन भित्ति-चित्रकारी के उदाहरण कोरनेटो, चिन्सी, वुल्सी, सर्वेटेरी आदि के मक़बरों में पाये गए हैं। ये भित्तिचित्र ग्रीक लोगों के चित्रों के अनुकरण पर बनाये गए जान पड़ते हैं और यद्यपि वे मनोरञ्जक हैं, किन्तु उनमें कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं, जिससे उन्हें श्रेष्ठ कहा जा सके। पूर्व रोमन काल के जीवन का चित्रण करने के कारण वे ऐतिहासिक दृष्टि से अवश्य महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। इनमें शराब के प्यालों और दावतों में निमग्न इट्रस्कन सरदारों की विलासप्रियता का अच्छा चित्रण हमें मिलता है। इन चित्रों में विशेष रूप से दावतों में शामिल होनेवालों, गायकों और नर्त्तकों का ही दिग्दर्शन कराया गया है।
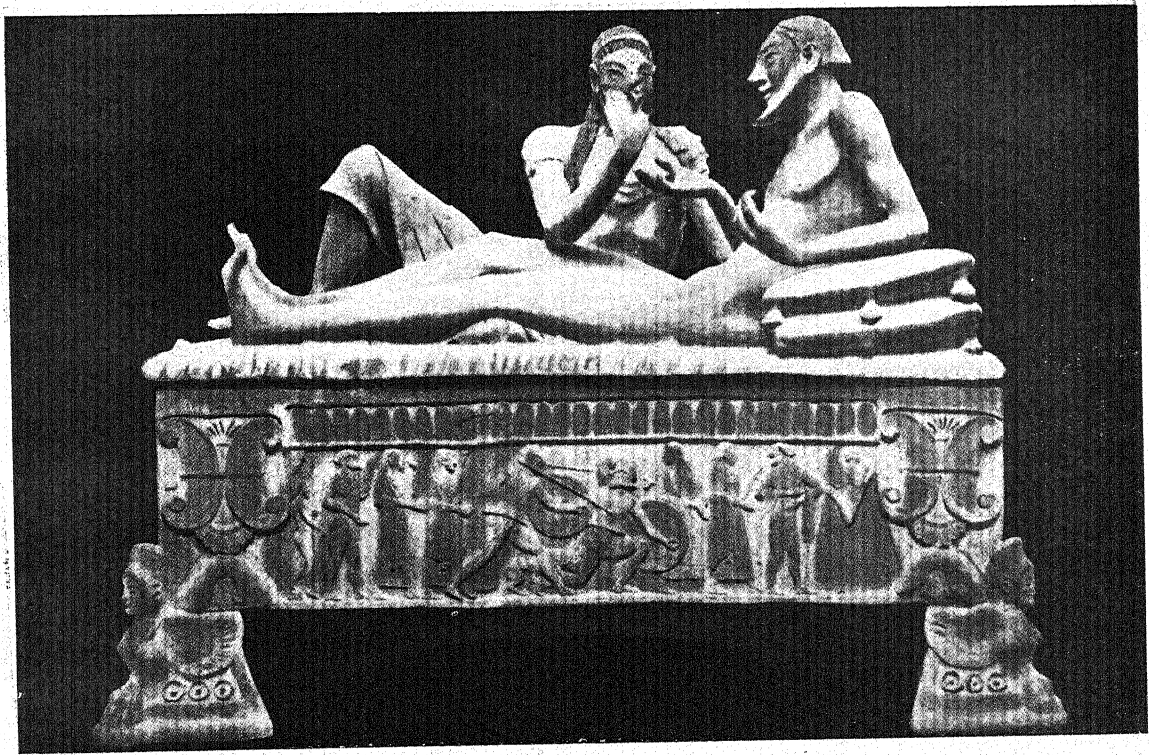
इट्रस्कन कला के दो नमूने—(ऊपर) छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व का एक शवाधार या 'सार्कोफेगस' (नीचे) तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व का एक शवाधार । ('ब्रिटिश म्यूज़ियम' में सुरक्षित)
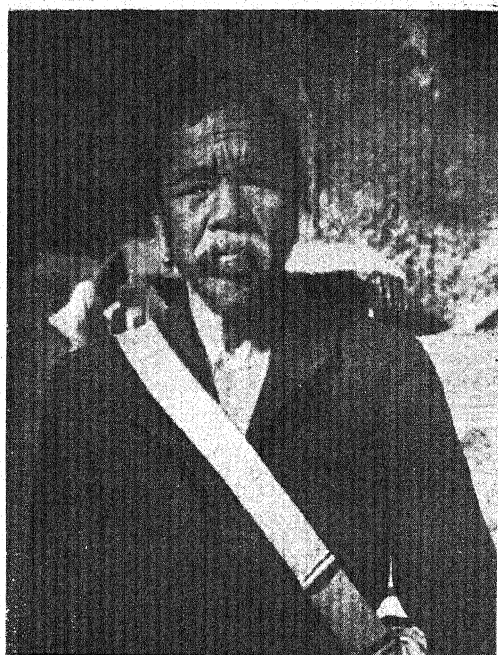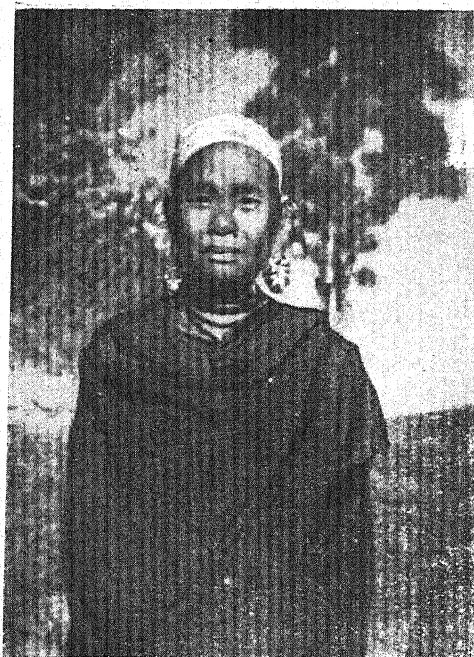
गारो जाति के स्त्री-पुरुष के कुछ नमूने
(फ़ो०—लेखक द्वारा)
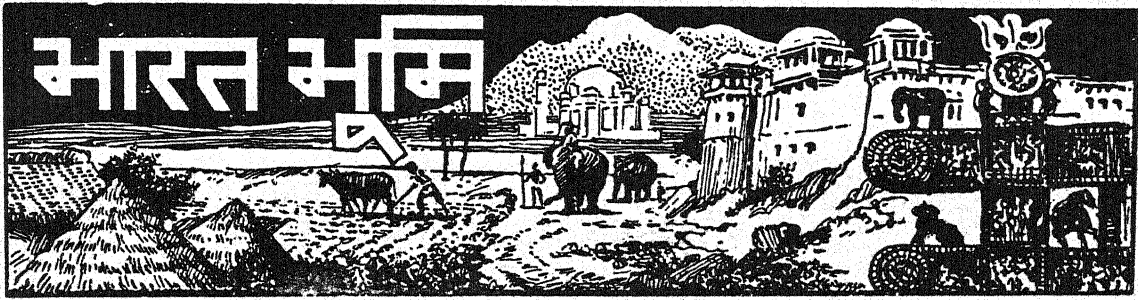
आसाम की गारो जाति

संस्कृति और सभ्यता की निचली श्रेणी पर स्थित अनेक आदिम जंगली जातियों के जीवनक्रम का मनोरंजक हाल आप इसी स्तंभ के पिछले कई लेखों में पढ़ चुके हैं। उनके विचित्र सामाजिक रीति-रिवाज़ों का परिचय पाकर आपको मानव विकास के अद्भुत् ढंग का कुछ अंदाज़ ज़रूर हुआ होगा। किन्तु अब तक प्रस्तुत की गई जातियाँ मानवविज्ञान की शब्दावली में 'पितृमूलक' (Patriarchal) संगठनवाली जातियाँ ही थीं; अर्थात् उनके सामाजिक संगठन में सम्पत्ति का उत्तराधिकारी लड़का होता है, लड़कियाँ नहीं। दूसरे शब्दों में पिता या पुरुष को ही केन्द्र बनाकर परिवार का ढाँचा खड़ा होता है। इसके विपरीत अब हम एक ऐसी जाति का उदाहरण प्रस्तुत करने जा रहे हैं, जो 'मातृमूलक' (Matriarchal) समाज-संगठन को अपनाए हुए है। इस प्रकार के संगठन में सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी लड़की होती है और पुरुष के बदले स्त्री को ही केन्द्र बनाकर समाज की रचना की गई होती है। ऐसी जातियाँ अब संसार में बहुत कम रह गई हैं, इसलिए समाज-वैज्ञानिकों के लिए वे बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। आइए, इस लेख में हमारे देश की इसी वर्ग की एक जाति का मनोरंजक हाल आपको सुनावें।

आसाम, अथवा उसका वह भाग जिसमें जंगली और अर्द्ध-सभ्य जातियाँ निवास करती हैं, मानवविज्ञान-वेत्ताओं का स्वर्ग है। आसाम की पहाड़ियों में अब भी बहुत-सी आदिम जातियाँ रहती हैं, जिनमें से कुछ बहुत उपद्रवी, हठी, प्रायः मैदानवालों को तंग करनेवाली और आपस में निरन्तर कलह करनेवाली बतलाई जाती हैं। गारो लोगों की तरह कई जातियाँ, जो कि मैदानवाले ज़िलों के पास रहती हैं, अक्सर यह दावा करती हैं कि पड़ोस के गाँवों पर मूलतः हमारा ही अधिकार था—इन गाँवों के स्वामियों ने धूर्तता से और बंगाल के भूतपूर्व शासकों की सहायता से हमें अधिकारच्युत कर दिया है। अत्यन्त दुर्गम और क़िले की तरह बनी हुई पहाड़ियों में नागा जाति के लोग रहते हैं, जो आज भी मनुष्य की बलि की प्रथा के लिए बदनाम हैं। ये लोग 'नरमुण्ड के शिकारी' (head-hunters) कहलाते हैं और एक विचित्र और प्राचीन युग का जीवन व्यतीत करते हैं। उनका जीवन रंग-बिरंगा और भड़कीला होता है और उनके व्यवहार रहस्यपूर्ण और डरावने होते हैं। नागा लोग शक्ति के पूजक होते हैं और उनका धर्म आत्मतत्त्व की शक्ति या एक ऐसी सर्वव्यापी शक्ति के प्रति विश्वास में केंद्रित है, जोकि पोलीनेशिया में पाई जानेवाली 'माना' की कल्पना से बहुत मिलती-जुलती है। उनका विश्वास है कि यह शक्ति मनुष्यों और वस्तुओं में बिखरी हुई होती है। शक्ति और प्रभाव राजाओं, सरदारों और देवताओं की भाँति कुशल योद्धाओं के भी गुण
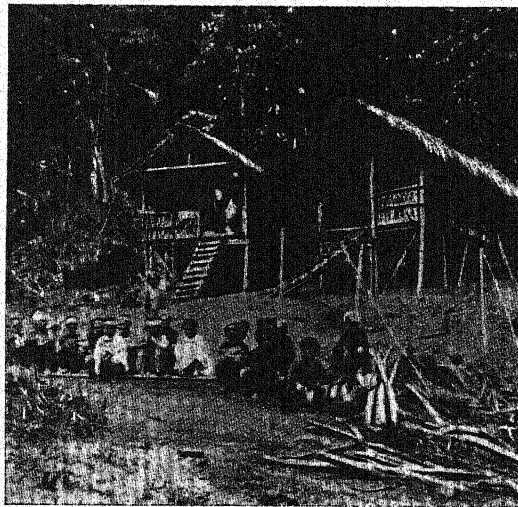
गारो लोगों के युवागृह या अविवाहित नवयुवकों के विश्रामागार जो मेहमानों के भी काम आते हैं। इसी तरह के युवागृह का एक अन्य चित्र इसी लेख में अन्यत्र दिया गया है। ये लोग ऐसे घरों को 'नोकपान्टे' कहते हैं।

बनी है। आसाम ने इन जातियों के लिए ऐसे एकान्त शरणस्थल प्रस्तुत किए हैं, जहाँ मालूम होता है कि वे उन अधिक सम्पन्न और व्यवहारकुशल जातियों के दबाव के सामने न टिक सकने के कारण चली गई हैं, जिनके प्रभाव से नदियोंवाली उपजाऊ ज़मीनों का भूभाग नहीं बच पाया है। आसाम की अनेकों जंगली जातियों में गारो ही सर्वप्रथम पहाड़ी जाति है, जिससे कि बंगाल की जनता और शासकों का सम्पर्क हो पाया है।

गारो लोगों की भाषा

गारो लोग तिब्बती-बर्मी भाषा बोलते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि वे तिब्बत के पठार को पार करने के बाद गारो पहाड़ियों की ओर भटक पड़े थे। गारो लोगों की भाषा—शब्दावली और वाक्यरचना दोनों की दृष्टि से—तिब्बती भाषा से बहुत सादृश्य रखती है। आसाम के आदिम निवासियों के क्षेत्रों में केवल कुछ ही मील की दूरी तय करने के बाद बोली में परिवर्त्तन होने लगता है। इन भाषाओं की यह विशेषता है कि वे शीघ्र ही ऐसी स्थानीय बोलियों में परिणत हो जाती हैं कि एक बोलीवाला दूसरी बोली जाननेवाले की बात को समझ नहीं पाता। डा० हटन ने इस सम्बन्ध में एक दिलचस्प कहानी लिखी है। आसाम की सेमा नागा जातियों के विभिन्न गाँवों के सात आदमी एक दिन शाम को एक सड़क के किनारे दैवात् मिल गए। सबने एक दूसरे से पूछा कि तुम्हारे पास चावल के साथ खाने के लिए क्या चीज़ है? हर एक ने अतुशेह, ग्वोमिशी, मुगीशी, अमूसा, अखेल्हे आदि भिन्न-भिन्न वस्तु का नाम लिया, जिनका अर्थ अपनी-अपनी बोली के अनुसार लोगों ने सूखी मछली, मांस तथा विभिन्न प्रकार की तरकारियाँ समझा। इसके बाद सबमें यह राय ठहरी कि सब अपनी अच्छी-अच्छी चीज़ें सब लोगों के खाने के लिए दे दें और सब लोग समान रूप से उसमें हिस्सा लें। जब वे दावत खाने के लिए तैयार होकर बैठे तब प्रत्येक अपने मन में यह सोच रहा था कि अपने पड़ोसियों को हिस्सेदार बनाने के लिए राज़ी करके किस प्रकार वह फ़ायदे में रहा! किन्तु जब

वृक्ष पर बना हुआ गारो लोगों का मकान

यह 'बोराङ्ग' कहलाता है। ऐसे मकान इन लोगों में बहुतायत से पाये जाते हैं। प्रत्येक गारो गृहस्थ के पास दो मकान होते हैं—एक गाँव में और दूसरा खेत पर। खेत पर बने इस प्रकार के मकानों को वृक्षों के सिरे पर इतना ऊँचा इसलिए बनाया जाता है कि हाथी आदि जंगली जानवर उन्हें तोड़ न सकें। (फ़ो० – मेजर प्लेफ़ेयर)

समझे जाते हैं और किसी व्यक्ति के गले में पड़ी हुई खोपड़ियों की माला समाज में उसकी स्थिति और वैवाहिक चुनाव में उसकी सफलता का निश्चय करती है। नागा लोगों में बहुविवाह का काफ़ी प्रचलन है और नरमुण्ड का शिकार कर लाना स्त्रियों की कृपादृष्टि प्राप्त करने का पक्का साधन है।

आसाम के भीतरी भागों में बसनेवाली जातियों के बारे में बहुत ही कम हाल मालूम हो पाया है। आज भी यहाँ के आदिम निवासियों की अनेकों टुकड़ियों की कोई सूची नहीं

उन्होंने अपने-अपने गट्ठर खोले, तो सब के गट्ठरों से सिर्फ़ लाल मिर्चें निकलीं ! नागा, कूकी और गारो लोगों की भाषाओं में परिवर्त्तनशीलता की वह प्रवृत्ति, जिसके कारण शब्दों का रूपान्तर हो जाता है, तथा नये शब्दों और वाक्यांशों को पचा लेने की एक अद्भुत् शक्ति पाई जाती है। परम्परागत अनुश्रुति के अनुसार, वे हिमालय के पठारों से पूर्वी भारत और बर्मा से होते हुए आसाम की घाटियों में चले आए। इस अपनी यात्रा की स्मृति अब भी उनमें बनी हुई है। सर्वप्रथम वे हिमालय की तराई में आए। वहाँ से पूर्व की ओर घूमते हुए ब्रह्मपुत्र की घाटी में आकर रहने लगे। बाद में वहाँ से भी पलटकर चल पड़े और अन्त में पहाड़ियों तथा नदी से घिरे हुए उन मैदानों में आ पहुँचे जिनमें कि आजकल वे रहते हैं।

गारों लोगों का बलि देने का स्थान
जिसे ये लोग 'सम्बासी' कहते हैं।

गारो प्रदेश की प्राकृतिक शोभा और विशेषताएँ

आजकल गारो लोग दो भागों में बँट गए हैं—पहाड़ी गारो और मैदानी गारो। मैदानी गारो लोग गारो पहाड़ियों से बाहर मैमनसिंह, ग्वालपाड़ा,' कामरूप और खसिया-जयंतिया पहाड़ियों में फैले हुए हैं। गारो पहाड़ियाँ कमोबेश ऊँचे पठार-सरीखी मालूम होती हैं, जिस पर अनेकों ऊँची चोटियाँ इधर-उधर उठी हुई हैं। इनमें सबसे ऊँची चोटी 'नोकरेक' है, जो कि ४६५२ फ़ीट ऊँची है। यहाँ पर बहुत अधिक वर्षा होती है। किसी-किसी वर्ष लगभग १५५ इंच तक वर्षा हो जाती है। पहाड़ियाँ सघन वनों से आच्छादित हैं, जिनमें साल वृक्ष और बाँस बहुतायत से पाये जाते हैं।

गारो पहाड़ी प्रदेश की प्रमुख विशेषता उसका सुंदर प्राकृतिक दृश्य है। ऊँचे स्थानों से नीची पहाड़ियों की ओर देखने पर रंग और प्रकाश के अत्यधिक मनोहर दृश्य देखे जाते हैं। सेमसाङ्ग और उसकी सहायक नदियाँ वृक्षों, चट्टानों और झरनों के साथ मिलकर कलाकारों के हृदय को लुभानेवाले दृश्य उपस्थित करती हैं। 'रंगीरा' पहाड़ी के निचले शिखरों पर जब प्रातःकालीन सूर्य की अरुण किरणें पड़ती हैं तो फ़ेनिल श्वेत कुहरे के साथ सूर्य की किरणों के मिल जाने से जो मनोहर दृश्य उपस्थित होता है उसे देखकर ऐसा जान पड़ता है मानों हम परीदेश में पहुँच गए हों। जंगल की प्राकृतिक शोभा के साथ मिलकर यह दृश्य यात्रियों के मस्तिष्क पर एक अमिट छाप अंकित कर जाता है—यह दृश्य कभी भूला नहीं जा सकता।
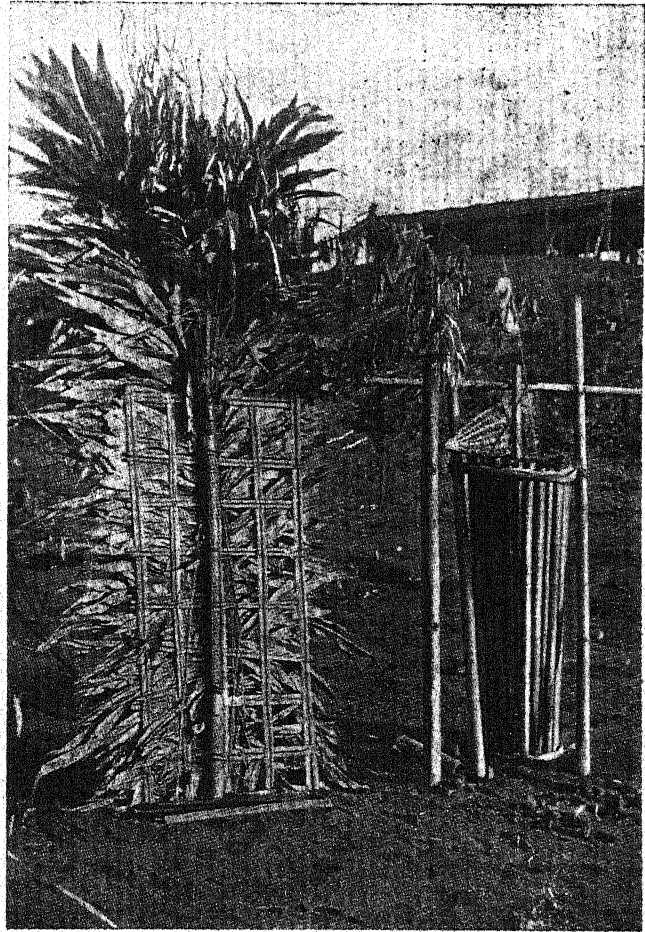
सोमेश्वरी नदी ऊँची और ढालू पहाड़ियों के बीच एक बड़ी ही तंग घाटी से होकर बहती है और कई स्थानों पर वह बहुत विस्तृत चट्टानों के ऊपर से होकर बड़ी तेज़ी के साथ आगे बढ़ती है, जिससे कि वर्ष के अधिकांश भाग तक उसमें नावें नहीं चल सकतीं। वर्षाकाल में यह नदी अपने किनारों को लाँघ जाती है और कई स्थानों पर उसे पार करना कठिन हो जाता है। जिस समय इसमें बाढ़ आ जाती है

उस समय तो उसके वेग के सामने कोई साधारण पुल टिक ही नहीं सकता। गारो लोगों ने एक प्रकार का लटकनेवाला पुल बनाना सीख लिया है। यह पुल पेड़ों की ऊपरी डालियों में बाँधे गये बेतों के समूह के सहारे लटका रहता है। पुल पर का आने-जाने का रास्ता बाँस की छड़ों को आरपार रखकर बनाया जाता है। सोमेश्वरी नदी की नीचाई के भागों में नावें चलाना सम्भव है। यहाँ गारो लोग एक प्रकार की अपनी ही बनाई हुई नाव काम में लाते हैं, जिससे उन्हें अपनी खेती की पैदावार बाज़ार में ले जाने में सुविधा हो जाती है।

जीवन-निर्वाह के साधन

गारो लोग इस समय जंगल की पैदावार पर अधिक आश्रित नहीं हैं, क्योंकि उनकी भोजन-सामग्री का पर्याप्त भाग मछलियों के शिकार से ही मिल जाता है। उनकी वह खुरदरी रुई, जिसे कि वे पहाड़ियों में पैदा करते हैं, सीमान्त के गाँवों में आसानी से बिक जाती है। यह मिलावट और भर्ती के काम में लाई जाती है, क्योंकि इसके रेशे बहुत छोटे होते हैं और देहात में मिलनेवाली मामूली क़िस्म की रुई से भी वह अधिक खुरदरी होती है। बाज़ार के दिन गारो लोग लंगूचा की शक्ल की बेंत की सैकड़ों टोकरियाँ, जिनमें रुई भरी रहती है, लाते और उसके बदले में अपनी आवश्यकताओं की चीज़ें ख़रीद ले जाते हैं।

आकृति, वर्ण और रूप

गारो लोग मंगोल जाति के हैं। वे पीत वर्ण के होते हैं। कुछ व्यक्तियों में श्यामता भी पाई जाती है। उनका चेहरा छोटा और गोल होता है, और देखने में चौड़ापन लिये हुए होता है। ऐसा ख़ास तौर पर उनकी नाक की वजह से होता है। उनका क़द छोटा होता है। मेजर स फ़ेयर के अनुसार, पुरुषों की औसत ऊँचाई ५ फ़ीट १॥ इंच और स्त्रियों की ४ फ़ीट १० इंच होती है। लेकिन मैंने जो आँकड़े इकट्ठे किये हैं उनके अनुसार पुरुषों की औसत ऊँचाई ५ फ़ीट २॥ इंच है। स्त्रियों का नाप लेना कठिन था। इसके कारण स्पष्ट ही हैं। गारो पहाड़ियों के भीतर रहनेवाले गारो लोग, उन लोगों से जो कि पहाड़ियों के सिरों पर रहते हैं, कहीं अधिक हट्टे-कट्टे होते हैं। स्त्रियाँ बहुत ख़ूबसूरत नहीं होतीं, वे शीघ्र बूढ़ी हो जाती हैं। वे स्त्रियाँ जो कि मैदानों में आकर बस गई हैं और जो कि ईसाई हो गई हैं पहाड़ियों पर बसनेवाली अपनी बहनों से कहीं अधिक सुन्दर पोशाक पहनतीं और उनसे अधिक आकर्षक देख पड़ती हैं। गारो पहाड़ियों के भीतरी भाग की महिलाएँ कान में बहुत-सी बालियाँ पहनती हैं, जिससे उनके कान का निचला सिरा काफ़ी फैल जाता और कभी-कभी तो बालियों के भार से कटकर उसके दो भाग भी हो जाते हैं। जैसा कि अधिकांश मंगोल जातियों में पाया जाता है, गारो लोगों के भी चेहरों पर बहुत कम बाल होते हैं और अगर बाल निकल आते हैं तो ये लोग उन बालों को मूछों के बीच के भाग से हटाकर उसके किसी एक किनारे की ओर करके प्रदर्शित करने का बड़ा ध्यान रखते हैं।

वेशभूषा और आभूषण

पहाड़ों में रहनेवाले गारो लोग पोशाक की ज़रूरत ज़्यादा नहीं महसूस करते। लेकिन जिस समय वे अपनी बस्तियों से बाहर निकलते हैं या बाज़ारों के लिए रवाना होते हैं तो स्वयं अपने ही तैयार किये हुए कपड़ों को पहन लेते हैं। वे अपने नृत्यों और उत्सवों के अवसर पर अपनी सबसे उम्दा पोशाक पहनते हैं। ख़ास तौर से वे एक अत्यधिक आकर्षक मुकुट पहनते हैं जोकि मुर्गों के पंख से अलंकृत होता है। गारो पुरुषों की ख़ास पोशाक गैण्डो (Gando) होती है। यह नीले रंग के सूती कपड़े की एक पट्टी होती है, जिसमें लाल रंग की धारियाँ पड़ी होती हैं। यह ६ इंच चौड़ी और लगभग ६ या ७ इंच लम्बी होती है। यह पैरों के बीच से होकर निकलती और पीछे की ओर से ऊपर लाकर कमर के चारों ओर कस ली जाती है। उसके सिरे पीठ की ओर के तहों के नीचे जकड़ दिये जाते हैं। पोशाक पहनते हुए इस बात का ख़ास ध्यान रखा जाता है कि लगभग डेढ़ फ़ुट कपड़ा बच रहे जिसे कि सामने झूलते रहने के लिए छोड़ दिया जाता है। यह पोशाक साधारणतया सादी होती है, लेकिन कभी-कभी इसका एक सिरा कौड़ियों की पंक्तियों से सजाया रहता है।

गारो स्त्रियों के पहनने का कपड़ा १८ इंच लम्बा होता है और उसकी चौड़ाई इतनी काफ़ी होती है कि वह लहँगे की शक्ल में उनकी कमर के चारों ओर आ जाता है। इसी कपड़े की बनी हुई दो डोरियों से वह दायें या बायें सिरे पर बँधा रहता है, जिससे कि जाँघों पर वह खुला रह सकता है। इस पोशाक को रिकिंग (Riking) कहते हैं। स्त्रियों के कान पीतल आदि धातुओं की बनी हुई बालियों से आभूषित होते हैं। इनमें से कुछ काफ़ी बड़ी होती हैं, जिनके भार के कारण कान और उसकी लटकन का भाग काफ़ी झुक आता है। गारो स्त्रियाँ इन बालियों को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समझती हैं, क्योंकि जब कोई पुरुष मर जाता है तो

उसकी पत्नी को बालियाँ तब तक के लिए उतारकर रख देनी पड़ती हैं जब तक कि अन्त्येष्टि क्रिया समाप्त नहीं हो जाती। ऐसा भी होता है कि वह उन्हें फिर कभी भी न पहने। परपुरुष-सम्भोग के अपराध के लिए दिये जानेवाले दण्डों में से एक यह भी है कि अपराधिनी स्त्री की बालियाँ पकड़ कर इतनी बेरहमी से खींच ली जाती हैं कि कान के निचले भाग के फटे हुए दोनों हिस्से कुरूपता की दशा में बच रहते हैं। जब किसी पत्नी के पातिव्रत का उल्लंघन हो जाता है तो उसकी रिश्तेदार औरतें कभी-कभी उसकी बालियाँ निकालकर उस समय तक के लिए अलग रख देती हैं जब तक कि मामले की जाँच-पड़ताल होकर उसका फ़ैसला नहीं हो जाता।

गारो लोगों के मकान

गारो लोग अपना मकान डीह पर और साधारणतया पहाड़ियों के ढाल पर बनाते हैं। मकान बनाने की ज़मीन के समतल न होने के कारण उनके खम्भे विभिन्न नाप के होते हैं। ये खम्भे ४ फ़ीट से लेकर ८ फ़ीट तक के होते हैं। इन खम्भों पर आरपार कड़ियाँ रखी जाती हैं और उन पर बाँस का छाजन रहता है। दीवालें भी बाँस के छाजन की ही होती हैं और बाँस की छत घास-फूस से छाई जाती है। मकान काफ़ी लम्बे होते और तीन कमरों या हिस्सों में बँटे रहते हैं। बीच का कमरा सबसे बड़ा होता है और परिवार के शयनागार का काम देता है। मृत पूर्वजों की आत्माओं का भी इसी कमरे में निवासस्थान होता है और यहीं मद्य

गारो लोगों के प्रत्येक गाँव में पाया जानेवाला युवाग्रह या 'नोकपान्टे'

इसे गाँव के अविवाहित नौजवानों को ही मिलकर बनाना पड़ता है। यह हमेशा ऊँचे मंच पर बनाया जाता है। कई खम्भों पर आरपार कड़ियाँ रक्खी जाती हैं और उपर बाँस का छाजन रहता है। दीवालें भी बाँस के छाजन की ही होती हैं और बाँस की छत घास-फूस से छाई जाती है। काटे हुए बाँस के लट्ठे बतौर सीढ़ियों के काम में लाये जाते हैं। गाँव के अविवाहित नवयुवकों के लिए इस प्रकार के अलग जातीय विश्रामगृह या शयनागार बनाने का रिवाज़ अन्य अनेक आदिम जातियों में भी पाया जाता है, जिनमें से कई से आप परिचित हो चुके हैं।

के पात्र रखने का स्थान 'चुसीमारा' (Chusimara) भी बना होता है। इसी कमरे के अन्दर खाना पकाने का चूल्हा भी बना रहता है और इसके ऊपर भोजन बनाने के बर्त्तन या यदि और कोई बर्त्तन हुए तो उन्हें रखने के लिए बाँस की एक चौकी रखी जाती है जिसे कि 'ओङ्गल' (Ongal) कहते हैं। भोजन परसने के लिए इस कमरे के भीतर साफ़-सुथरी जगह ख़ाली रहती है, जिसे कि रात में सोने के काम में लाया जा सकता है। गारो लोगों के कुछ मकानों में तीसरा या आख़िरी कमरा खाने का सामान रखने के काम में लाया जाता है, लेकिन जबकि परिवार में सयानी और अविवाहिता लड़कियाँ रहती हैं, तो बीचवाला कमरा इन्हीं के काम में आता है और पति-पत्नी हटकर इस तीसरे कमरे में चले आते हैं। गारो समाज के मातृमूलक होने के कारण जिस समय पुरुष अपनी पत्नी के साथ रहने के लिए उसके घर चला आता है तो बाँस की एक दीवाल से बड़े कमरे का बीच से बँटवारा कर दिया जाता है, जहाँ पर नवदम्पति रात्रि में शयन करते हैं।

प्रत्येक गाँव में एक युवागृह होता है, जिसे नोकपान्टे (Nokpante) कहते हैं। साधारणतया यह जाति के नौजवानों के रहने के लिए ही होता है। इसे गाँव के नवयुवकों को मिलकर अनिवार्य रूप में स्वयं अपने ही परिश्रम से बनाना पड़ता है। यह हमेशा उच्चतर मंच पर बनाया जाता है और इसमें काटे हुए बाँस के लट्ठे बतौर सीढ़ियों के काम में लाये जाते हैं। प्रत्येक गारो गृहस्थ के पास दो मकान होते हैं; एक गाँव में और दूसरा खेत में, जहाँ कि उनके झूम के खेत स्थित होते हैं। खेत में बने हुए मकान की जानवरों से रखवाली करनी पड़ती है, ख़ास करके जंगली हाथियों से, जो कि धान के हरे पौधों और रुई के पौधों के लिए खेतों में आते रहते हैं। ये मकान वृक्षों के सिरों पर बनाये जाते हैं, जैसा कि पृ० १३६४ के चित्र में दिखाया गया है। इस प्रकार के मकानों को 'बोरांग' (Borang) कहते हैं और ये गारो प्रदेश भर में देख पड़ते हैं।

खेती-बारी

गारो लोगों की कृषि-प्रणाली 'झूम' कहलाती है। इस प्रणाली में, जैसा कि हम पिछले लेखों में बतला चुके है, ज़मीन के एक बड़े टुकड़े को आग लगाकर साफ़ कर लिया जाता है; साल-दो साल तक उस पर खेती की जाती है और तब उसे छोड़कर ज़मीन का एक दूसरा टुकड़ा उपयोग में लाया जाता है। उस पर भी आरम्भ में यही क्रिया होती है। खेती की इसी प्रणाली को दक्षिण-पश्चिम भारत में 'कुमारी', गंजाम एजेन्सी में 'पोडू' या 'बोडागू', बर्मा में 'टौउंग्याँ', उत्तर भारत में 'दहिया' और मलाबार में 'पोनम' कहते हैं। फ़िलिप्पाइन द्वीपसमूहों में यह प्रथा 'गुइङ्ग्ज़' के नाम से प्रसिद्ध है। आर्डेनीज़ में यह प्रणाली 'सार्टेज़' और स्वीडन में 'स्वेडजान्डे' के नाम से प्रचलित है। यह आदिम कृषि-प्रणाली सारे संसार में पाई जाती है और जहाँ कि बहुतायत से अछूता जंगल मिलता है वहाँ पर यह आज भी व्यापक रूप में प्रचलित है।

गारो लोगों में खेती की जो प्रणाली प्रचलित है, उसके अनुसार भूमि को जोता या खना नहीं जाता, बल्कि जब ज़मीन काफ़ी मुलायम रहती है तो उसमें तेज़ धार की नोकीली खन्तियों से जगह-जगह गड्ढा खोद देते हैं और प्रत्येक में कुछ बीज छोड़ दिए जाते हैं। बाजरे की खेती और भी आसान है, क्योंकि इसे जलाये हुए जंगल की राखों में छींटकर बो दिया जाता है और बोने के पूर्व उस ज़मीन को उलटा नहीं जाता। साधारणतया गारो लोग झूम के खेतों से दो-तीन फ़सल तक पैदा करते हैं। पहले वर्ष कई चीज़ों के बीज मिलाकर बोये जाते हैं। दूसरे साल केवल धान बोया जाता है और इसके बाद खेत छोड़ दिया जाता है। कुछ खेतों में तीसरे वर्ष भी खेती की जाती है, लेकिन इसके बाद खेती बेमुनाफ़े की हो जाती है। वे लोग धान को काटते नहीं, जैसा कि मैदानों में होता है, बल्कि वे बालियों को अपनी मुट्ठियों में पकड़कर दानों को बाहर खींच लेते हैं! वे दो टोकरियाँ लिये रहते हैं—एक पीठ पर रहती है, जिसमें कि वे धान के दाने रखते जाते हैं और दूसरी सामने की ओर कमर से बँधी रहती है। इस दूसरी टोकरी में वे उन दानों को रखते हैं जिन्हें वे बीज के लिए काम में लाते हैं।

समाज-संगठन—मातृमूलक व्यवस्था

गारो लोगों की सबसे महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक विशेषता उनके समाज का मातृमूलक संगठन और उसके फलस्वरूप उत्तराधिकार के नियमों का होना है। भारतवर्ष की कुछ ही आदिम जातियाँ अपने मातृमूलक संगठन को सुरक्षित रख पाई हैं। इसलिए खसिया और गारो जातियाँ, जो दोनों आसाम की हैं और आज भी मातृमूलक संगठन को बनाए हुए हैं, समाजशास्त्रियों और सामाजिक मनोविज्ञानवेत्ताओं की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। मातृमूलक परिवार में सम्पत्ति का उत्तराधिकारी लड़का न होकर लड़की होती है। स्त्री पति के घर नहीं जाती, बल्कि पति ही स्त्री के घर आकर रहता है और लड़कों का नाम पिता के वंश के अनुसार न रखकर माता के वंश के अनुसार रखा जाता

है। ये सभी विशेषताएँ गारो जाति में भी पाई जाती हैं। यहाँ पर उनके सामाजिक संगठन का कुछ वर्णन देना मनोरञ्जक होगा।

गारो लोगों में सबसे छोटी पुत्री सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होती है। यदि वह शारीरिक या मानसिक दृष्टि से अथवा अन्य किसी कारण से उत्तराधिकारिणी होने के अनुपयुक्त हो या उसके माता-पिता तथा जाति के लोग उसे इसके अनुपयुक्त समझें तो ऐसी दशा में परिवार की कोई दूसरी लड़की सारी सम्पत्ति की 'नोकना' (Nokna) या उत्तराधिकारिणी बनाई जा सकती है। मामा के लड़के के लिए परिवार की इस कनिष्ठ पुत्री से, अथवा उससे जो कि 'नोकना' हो, ब्याह करना अनिवार्य होता है और उसे अपनी स्त्री के साथ उसके नैहर में रहना पड़ता है। कोई भी गारो पुरुष सम्पत्ति का स्वामी नहीं हो सकता। जो कुछ भी वह अपने परिश्रम से कमाये या किसी से उसे मिले, वह सब वास्तव में उसकी माता और बहनों की सम्पत्ति माना जाता है, चाहे वह व्यक्ति बालिग़ हो या नाबालिग़। अगर वह शादी करे तो जो कुछ भी उसे इस शादी में मिलेगा वह भी उसकी स्त्री की जायदाद मानी जायगी या उसकी (स्त्री की) मृत्यु के बाद उसकी लड़की ही उस जायदाद की मालकिन होगी। उसकी माता की मृत्यु होने की दशा में, या उसकी पत्नी अथवा पुत्री अथवा बहिन की मृत्यु होने की दशा में, जैसी कि परिस्थिति हो, सम्पत्ति पर माता के परिवार की निकटतम सम्बन्धिनी का अधिकार माना जायगा। किसी गारो पुरुष को अपनी पत्नी की अनुमति के बिना सम्पत्ति का कोई भी भाग बेचने का अधिकार नहीं होता, यहाँ तक कि वह स्वयं अपने परिश्रम से पैदा की हुई जायदाद को भी बिना उसकी अनुमति के नहीं बेच सकता! अगर वह ऐसा करे तो गारो लोग उसके इस कार्य को चोरी के समान ही निन्द्य मानते हैं।

यद्यपि ब्याह के बाद स्त्री साधारणतया अपने माता-

वह टोकरीनुमा समाधि जिसमें मृत व्यक्ति की अस्थियाँ उस समय तक रक्खी जाती हैं, जब तक की उसकी अंतिम अंत्येष्टि क्रिया नहीं हो जाती। इसे 'डेलांग' कहा जाता है। दाह-क्रिया समाप्त हो जाने पर अस्थियों की राख को शवदाह की जगह पर एक गड्ढा खोदकर उसी में डाल दिया जाता है और उसके ऊपर बाँस का छाजन कर दिया जाता है, तथा नीचे चारों तरफ़ बाँस का बाड़ा बना दिया जाता है। इसी बाँस के बाड़े के खंभों और डंडों पर मृत व्यक्ति के कपड़े, हथियार और बर्त्तन आदि प्रायः लटका दिए जाते हैं।
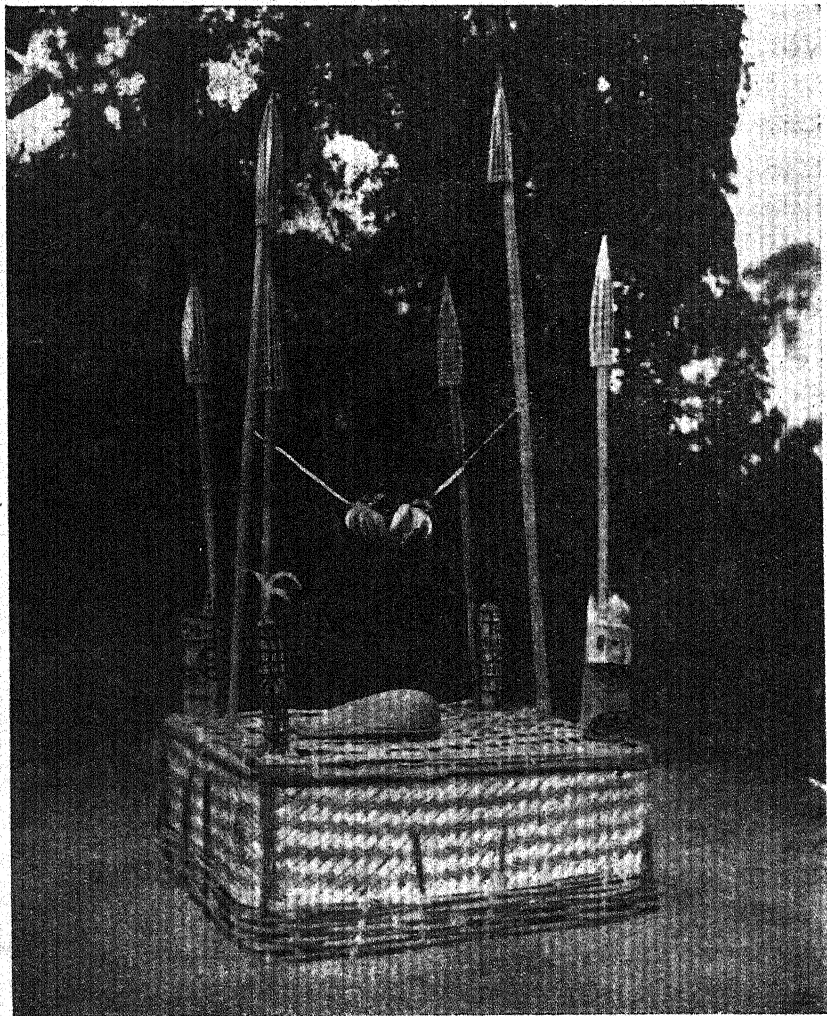
पिता के मकान पर ही रहती है, फिर भी कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई-कोई गारो अपने लड़के के लिए अपने मकान पर उसकी वधू को लाकर रखता है। लेकिन ऐसा होने पर पुत्र और पुत्रवधू को अपने सास-ससुर से अलग रहना और अलग ही खाना पड़ता है। ज्योंही उन्हें इस तरह अलग किया जाता है, उसी समय से सास को उन दोनों के लिए छः महीने तक खुराकी अर्थात् खाने-पीने के सामान का प्रबन्ध करना पड़ता है और उन्हें एक जोड़ी बैल दे देना पड़ता है। यदि कोई विवाहित गारो अपनी पत्नी के साथ नहीं रहता और अपनी बहन के परिवारवालों की परवरिश के लिए काम करता है तो वह अपनी सास के मकान पर केवल अँधेरा हो जाने के बाद ही आता है और वहाँ न तो खाना खाता, न तम्बाकू आदि ही पीता और न पान आदि ही ग्रहण करता है। ऐसा उसे इस विचार से करना पड़ता है कि चूँकि उसकी कमाई का कोई भाग उसकी स्त्री के परिवार के व्यय में नहीं आता, इसलिए उसका वहाँ पर खाना अथवा नाश्ता आदि में हिस्सा बँटाना शिष्टाचार की बात न होगी! मनीपुर की नागा जाति के लोगों में भी ऐसी प्रथाएँ प्रचलित हैं। आसाम के कूकी लोगों में प्रचलित प्रथानुसार पति इस असुविधाजनक कार्य से मुक्त रहता है—उसकी पत्नी ही अँधेरा हो जाने के बाद चुपके से उसके मकान पर चली आती है। टिपरा की पहाड़ियों में बसनेवाली कुछ जातियों के प्रथानुसार पति पत्नी के कमरे में चोर की तरह किसी प्रकार दाखिल हो जाता है और सबेरा होने से पहले ही वहाँ से चल देता है। गारो लोगों में यदि कोई लड़की विवाह के पश्चात् पति के साथ कहीं अन्यत्र चली जाती है तो वह उस समय तक 'नोकना' (उत्तराधिकारी) नहीं मानी जा सकती जब तक कि यह साबित नहीं कर दिया जाता कि जीविकोपार्जन की सुविधा की दृष्टि से ही यह व्यवस्था करना उनके लिए आवश्यक हो गया था।

गारो पहाड़ियों के कुछ भागों में ऐसे पति को जोकि नाकरम (Nakram) कहलाता है अपनी पत्नी को यदा-कदा मौके से पीटने का भी अधिकार होता है, अगर वह यह प्रमाणित कर सके कि उसने ऐसा उत्तेजना मिलने पर ही किया था। लेकिन पत्नी को ऐसा अधिकार नहीं दिया गया है। यदि वह ऐसा कर बैठे तो उसके पति के भाइयों अथवा सम्बन्धियों को इसकी अनुमति है कि वे चाहें तो उसके (स्त्री के) सबसे अच्छे बैल या सुअर को मारकर खा जायँ। ऐसा करने पर जो आर्थिक हानि होती है, उसे बिना चूँ चपड़ किए उस व्यक्ति की पत्नी को उठाना पड़ता है।

एक गारो स्त्री के लिए ज़रूरी है कि यदि मिल सके तो वह अपने पिता के क़बीले के किसी पुरुष से ही ब्याह करे। क़बीले के भीतर ब्याह करना मना है। साधारणतः पुरुष अपने पिता की बहन अर्थात् बुआ की लड़की से ब्याह करते हैं। अगर यह सम्भव न हुआ तो परिवार की किसी दूसरी लड़की से वे ब्याह करते हैं। यदि किसी पुरुष को विवाह के बाद संतान नहीं होती तो अपनी साली या उसके ख़ानदान की किसी दूसरी स्त्री को वह अपनी पत्नी बना सकता है, लेकिन साधारणतया ऐसा बन्ध्या स्त्री की स्वीकृति लेकर किया जाता है। अधिकतर कोई बच्चा गोद ले लिया जाता है। यदि किसी का बड़ा या छोटा भाई अपनी पत्नी को छोड़कर मर जाय तो उसकी विधवा स्त्री अपने पति के छोटे भाइयों में से किसी एक को अपना पति बना सकती है। यदि कोई युवक किसी वृद्धा से शादी कर ले तो वह उसी ख़ानदान की एक नौजवान लड़की को—विशेषकर वृद्धा की लड़की को—अपनी दूसरी पत्नी बना सकता है। किसी भी पुरुष को अधिकार है कि वह अपने भानजे को अपना जामाता बना ले और उसको उसकी भावी पत्नी के साथ एक ही कमरे में बन्द कर दे।

विवाह-पद्धति

गारो लोगों में विभिन्न प्रकार के विवाह प्रचलित हैं। सामान्यतया दो मुर्ग़ी के बच्चे और पीने के लिए शराब, जिसे वे ख़ुद तैयार करते हैं, इस कार्य के लिए आवश्यक होते हैं। मुर्ग़ी के बच्चों में एक नर और एक मादा होना ज़रूरी है। दम्पति के परिवार के बाहर के लोग उन मुर्ग़ी के बच्चों को भूनते और देवताओं को बलि चढ़ाते हैं और तब वे ही इन्हें खाते भी हैं। यह जानने के लिए कि यह शादी दम्पति के लिए सुखमय होगी या नहीं, गारो लोग मुर्ग़ों की अँतड़ियों की एक दूसरे से तुलना करते हैं। यदि लम्बी अँतड़ियों के सिरे की बनावट और नाप में समानता होती है तो समझा जाता है कि दम्पति का भविष्य निस्सन्देह सुखमय होगा। ब्याह का उपचार करानेवाला पुरोहित वर और वधू की पीठ अपनी मुट्ठी से तीन बार ठोंकता है और बस शादी की रस्म पूरी हो जाती है।

ईसाई धर्मानुयायी और ग़ैर-ईसाई दोनों ही गारो लोगों में अपना जीवन-साथी प्राप्त करने का एक और तरीक़ा पाया जाता है। यदि कोई गारो पुरुष उस स्त्री के बग़ल में सो सके जिससे कि वह शादी करना चाहता है, या कोई स्त्री ऐसा किसी पुरुष के साथ कर सके जिससे कि वह शादी

करना चाहती हो, तो उन दोनों की सगाई मान ली जाती है और इस घटना के बाद दोनों में शादी हो जाती है। उस हालत में जब कि दोनों पक्षों में से कोई एक दूसरे के बग़ल में सोने से इन्कार कर देता है तो बाहर से आनेवाले को—चाहे वह स्त्री हो या पुरुष—उस परिवार की रिश्तेदार महिलाओं को जुर्माना देना पड़ता है। वे नौजवान, जिनकी नज़रों में कोई ऐसी लड़की गड़ जाती है जिसे कि वे अपनी चिरसंगिनी बनाना चाहते हैं, हमेशा इस बात से सावधान रहते हैं कि उन्हें उक्त प्रकार के व्यवहार द्वारा स्त्रियों या लड़कियों से पराजित न होना पड़े।

जब कोई गारो युवक अपने मामा की लड़की से शादी करता है तो बहुधा उसे अपनी सास से भी शादी करने के लिए विवश होना पड़ता है, अगर शादी के समय संयोगवश वह विधवा हो! कोई गारो किसी नवयुवती और उसकी माता से एक साथ ही शादी कर सकता है, लेकिन लड़की से माता का दर्जा बड़ा होता है और उसकी मृत्यु के बाद ही लड़की जायदाद की उत्तराधिकारिणी होती है। ऐसी हालत में दोनों पत्नियों को समान रूप से विवाह-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त रहते हैं। अगर कोई वृद्धा स्त्री किसी नवजवान से शादी करती है तो वह चाहे तो एक दूसरी नवयुवती को मकान के अन्दर रख सकती है और उसे सौत का दर्जा हासिल होता है। वृद्ध पत्नी की मृत्यु के बाद वह स्वयं जायदाद की मालकिन हो सकती है।

विवाह की लोकप्रिय पद्धति के अनुसार वर और वधू एक-दूसरे की स्वीकृति से विवाह करते हैं। स्वीकृति प्राप्त करने की क्रिया में वधू ही पहले हाथ बढ़ाती है। वधू ही वर को पकड़ लाने के लिए निकलती है और रिवाज के अनुसार वर छिपने और उसकी पकड़ में न आने की कोशिश उस समय तक करता रहता है जब तक कि आख़िर में वधू उसे पकड़ नहीं लेती और विजयिनी होकर उसका हरण कर लेती है। कन्यापक्ष के लोग एक मुर्ग़ा और मुर्ग़ी देते हैं, जिनकी बलि चढ़ाना पुरोहित के लिए आवश्यक होता है और दम्पति को समारोह के साथ उन्हें खाना पड़ता है। इस समय पुरोहित मुर्ग़ा और मुर्ग़ी के डैनों को पकड़कर मन्त्र पढ़ते हुए दम्पति को सम्बोधित करता है और दम्पति को पुरोहित द्वारा पढ़े जानेवाले मन्त्रों को दोहराना पड़ता है। मुर्ग़ों के सामने कुछ दाने बखेर दिये जाते हैं और उन्हें इन दानों को खाने के लिए छोड़ दिया जाता है। एकाएक पुरोहित एक डंडे से उनके सिर पर प्रहार करके उसी क्षण उन्हें मार डालता है। इसके बाद वह छुरे से मुर्ग़े की अँतड़ियों को बाहर निकाल लेता है और यही क्रिया वह मुर्ग़ी के साथ भी करता है। इस क्रिया को सम्पादित करते समय इस बात का ध्यान रखना होता है कि ख़ून की कोई छींटें न पड़ने पावें, न अँतड़ियाँ ही टूटें और अँतड़ियों के साथ ख़ून भी बाहर न आने पावे। ऐसा होना दम्पति के लिए अनिष्टकर माना जाता है। यह क्रिया समाप्त हो जाने के बाद एक सहभोज होता है, जिसमें नृत्यसहित गायन होता है और इस प्रकार विवाह समारोह समाप्त हो जाता है।

मृत्यु-संस्कार

मृत्यु के पश्चात् गारो लोग चार दिन तक मृत शरीर को रक्खे रहते हैं और इसके बाद ठीक आधी रात के समय चिता में आग लगाई जाती है। सामाजिक जीवन में मृत व्यक्ति की स्थिति के अनुसार अन्त्येष्टि क्रिया का स्वरूप निश्चित किया जाता है। यदि वह कोई प्रभावशाली व्यक्ति, मुखिया या सरदार होता है तो चिता को फूल और लाल रंग के कपड़ों से सजाया जाता है और एक बैल की बलि चढ़ाई जाती है। पुराने ज़माने में सरदार या राजा के मृत शरीर के साथ दासों को भी जला दिया जाता था और प्रायः मृत सम्बन्धियों की चिता के साथ जलाने के के लिए मनुष्यों के सिर काटकर लाने के प्रयत्न किए जाते थे! दाहक्रिया समाप्त हो जाने के बाद जलाने के स्थान पर एक गड्ढा खोदकर उसी में अस्थियों की राख को डाल दिया जाता है और उसके ऊपर बाँस का एक छाजन कर दिया जाता है तथा नीचे चारों तरफ़ बाँस का बाड़ा बना दिया जाता है। मृत व्यक्ति के कपड़े, हथियार और बर्त्तन आदि या तो इस बाँस के बाड़े के स्तम्भों में लटका दिये जाते हैं या बाड़े के भीतर रख दिये जाते हैं। यदि मृत व्यक्ति का समाज में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान न भी हो तो भी गारो लोग परलोकगत प्राणी को एक कुत्ते की बलि अवश्य चढ़ाते हैं, ताकि वह उसके पर्यटन में पथ-प्रदर्शक का कार्य करे।

महामारी आदि रोग और तत्संबंधी अंधविश्वास

जब महामारी और संक्रामक रोगों का गाँव में प्रकोप होता है तो ग्रामवासी गदाओं और डण्डों से सुसज्जित होकर गाँव के रास्तों में इधर-उधर घूमते हैं, जंगल के वृक्षों पर प्रहार करते हैं, गाँव में बाहर से आनेवाले सभी रास्तों को रूँध देते हैं और संकट की भयानकता के अनुसार मुर्ग़ों, सुअरों

और बैलों की बलि चढ़ाते हैं। गारो लोगों को एक आदमी के ऊपर से हटाकर दूसरे के ऊपर संकट डालने के विचित्र ढंग मालूम हैं। यदि किसी आदमी को आँखों से ठीक न दिखाई देने या आँखों में दर्द होने की बीमारी हो तो वह एक टोकरी में मिट्टी का एक ढेला रख लेता है और यह चिल्लाता हुआ घूमता है कि 'लो, मुर्ग़ी के बच्चे ख़रीदो !' यदि कोई उसे रोक लेता है या दाम पूछता है तो वह उसे टोकरी दिखा देता है और भाग जाता है। इससे उसे विश्वास हो जाता है कि अपना संकट निरापद रूप में अपने ऊपर से उसने टाल दिया! दाहक्रिया समाप्त हो जाने के बाद मृत व्यक्ति के मकान के सामने की पहाड़ियों पर अनेक स्मारकस्तूप या 'किमा' (Kimas) खड़े कर दिये जाते हैं। हर किमा में ज़मीन के भीतर से गड़े हुए दो स्तूप होते हैं और ज़मीन से वे दो से चार फ़ीट की ऊँचाई तक उठे रहते हैं। कुछ स्तूप तो तराश कर मनुष्य की मुखाकृति के सदृश बना दिये जाते हैं और उन पर मृत व्यक्ति की पोशाक के कपड़े या चीथड़े डाल दिये जाते हैं। किसी-किसी गाँव में इस प्रकार के सैकड़ों कीमा खड़े कर दिये जाते हैं, और यदि गाँव की आबादी महामारी अथवा काला आज़ार के कारण—जो कि इस प्रदेश का एक भीषण रोग है—बर्बाद हो जाती है तो कभी-कभी सारा-का-सारा वीरान गाँव इन कीमों से ही भर जाता है और समूचे वातावरण में एक रहस्यपूर्ण निस्तब्धता छा जाती है। ऐसे भूतों के निर्जन गाँव गारो पहाड़ियों के भीतरी भागों में कई पाए जाते हैं, जिनसे हमें गारो लोगों में फैली हुई महामारियों और बीमारियों के ख़तरे का पता चलता है।

किमा या वे स्मारक-चिह्न जो गारो बस्तियों में बहुतायत से पाए जाते हैं

मृत व्यक्ति की दाहक्रिया हो जाने के बाद गारो लोग उसकी स्मृति में उसके मकान के सामने की पहाड़ियों या टीलों पर एक प्रकार के स्मारक स्तूप खड़े कर देते हैं। यही 'किमा' कहलाते हैं। प्रत्येक किमा ज़मीन के भीतर गाड़े गए दो स्तूपों के रूप में होता है। कुछ स्तूपों को तराशकर मनुष्य की मूर्त्ति का रूप दे दिया जाता है। इन आकृतियों पर मृत व्यक्ति की पोशाक के कपड़े डाल दिए जाते हैं। गारो बस्तियों में इस प्रकार के सैकड़ों किमा खड़े हैं।

गारो जाति का भविष्य

गारो लोगों की इस दिलचस्प जाति को भी ऐसी-ऐसी समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, जिन्हें वह स्वयं अपने प्रयत्नों और ज्ञान के बल पर सुलझाने में असमर्थ है, अतएव आज गारो लोगों के जीवन की शृंखला का बिखरना शुरू हो चुका है, जो कि आगे चलकर भीषण रूप धारण कर सकता है। रोमन कैथलिक सम्प्रदाय के ईसाई प्रचारक चाहते हैं कि ये लोग भाई-बहनों में शादी होने की प्रथा बन्द कर दें। बैपटिस्ट सम्प्रदाय के प्रचारक चाहते हैं कि वे मातृमूलक समाज-व्यवस्था को छोड़कर पैतृक उत्तराधिकार तथा पैतृक स्थानावास की प्रथा स्वीकार करें, और हिन्दू प्रचारक चाहते हैं कि वे हिन्दू हो जायँ। वकीलों ने उन्हें झूठ बोलना सिखा दिया है और अगर वे यह जान लें कि सम्पत्ति पर अपना अधिकार स्थापित करने में असत्यवादिता से उन्हें सहायता मिल सकती है तो वे उसी प्रकार सरलता से असत्य बोल सकते हैं जिस प्रकार कि पहले वे बड़े भोले और निष्कपट भाव के साथ सच बोला करते थे।

गारो लोगों के जीवन-संग्राम की कठोर परीक्षाओं का सामाजिक दृष्टि से बड़ा महत्व है। इन लोगों का सामाजिक संगठन बाहरी विचारों के सम्पर्क से बहुत अधिक प्रभावित होने लगा है और उसके एक ऐसे लक्ष्य की ओर भी आगे बढ़ने की सम्भावना है जो किसी समाज-विज्ञान के विद्यार्थी की दृष्टि में इस जाति के लिए वांछनीय नहीं होगा।

ज़रथुश्त्र

सत्य, दया, आदि दैवी आदर्शों का संदेश सुनानेवाले एक दिव्य मनस्वी की अमर गाथा

आज से कई हज़ार वर्ष पूर्व का ईरान देश। असाम्य, घृणा, तिरस्कार, अपमान आदि के दारुण दृश्य। प्रेम, दया, करुणा और उदारता के पुनीत आदर्शों के बदले स्वेच्छाचारिता, उद्दण्डता और स्वार्थपरता का आतंक। जनता निरापद नहीं। शासक भी सशंक। चारों ओर अराजकता का ही निविड़तम साम्राज्य।

इस घने अंधकार के बीच अचानक एक आलोक दिखाई दिया। वर्षा की पूर्व-सूचना लिये अत्याचारों के इस घटाटोप में एकाएक बिजली कौंध उठी। लोगों की प्यासी किंतु विस्मित-सी आँखें एकबारगी ही उस ओर खिंच गईं। भीषण गर्मी के बाद मानों शीतल बूँदा-बाँदी होने का उन्हें आभास मिला।

अराजकता के इस वातावरण में, स्वार्थियों के इस जमघट में, दिन-दिन गिरते इस ज़माने में भी, लंका में विभीषण की तरह एक आदर्श दम्पति स्नेह-पाश में बँधे हुए, दुनियाई हलचलों से तटस्थ, जीवनयापन कर रहे थे। ईश्वर-निष्ठा उनका धर्म, दया और उदारता उनका मूलमंत्र, एवं सतत् अध्ययन तथा प्रेममय जीवन ही उनका आदर्श था। असत्य, अधर्म और कुत्सित पापाचारों की गली में इनके जीवन का पुनीत छकड़ा भी जैसे-तैसे डगरमगर घिसटता चला जा रहा था। परमात्मा की विचित्र लीला कि इन्हीं के घर में उस नूतन प्रदीप की लौ प्रकट हुई जिससे कालान्तर में सारा ईरान जगमगा उठा! एक तेजस्वी बालक ने उनके घर में जन्म लिया। कहते हैं, बालक जब मा के गर्भ में था उसी समय राज-ज्योतिषियों ने घोषणा की कि वह शासकों का शत्रु होगा, उसके जन्म के साथ ही उनका विनाश जुड़ा हुआ है। इस भविष्य-वाणी के परिणाम-स्वरूप अराजकता के उस ज़माने में निरंकुश हाथों से जिस व्यवहार की अपेक्षा की जा सकती थी, वही होकर रहा। बालक के प्राण गर्भ ही में हरण कर लेने के लिए प्रयत्न किए जाने लगे। पर गर्भिणी माता जैसे-तैसे, अपने शिशु का स्नेह लिये, प्राण बचाकर मैके भाग गई और वहीं एक स्वर्गीय हँसी लिये हुए उस बालक ने इस जगती में पदार्पण किया। तत्कालीन रीतियों के अनुसार उसके संस्कार किये गए और एक पूर्वज वीर के आधार पर उसका नाम 'स्पितमा' रखा गया। किंतु मुसीबतों ने यहाँ भी पीछा न छोड़ा। बालक के प्राणों का सौदा होने लगा। उसे चुराया गया। उसे मारने की तरह-तरह की कोशिशें की गईं। परंतु जिसकी भाग्य-रेखा में अपने देश का अंधकार दूर करने का श्रेय अंकित था, उसे कौन यों असमय ही मिटा सकता था? वह सब आपदाओं की खाइयों को लाँघता गया और इस प्रकार कालान्तर में उसने किशोरावस्था में पदार्पण किया।

बचपन ही में इस बालक ने जिस ईश्वर-प्रदत्त असाधारण प्रतिभा से अपने बौद्धिक विकास का परिचय दिया, उससे स्वयं उसके माता-पिता ही चकित थे। पिता ने बालक की विलक्षणता देखकर उसके पठन-पाठन का उत्तरदायित्व स्वयं अपने ऊपर ले लिया। किंतु स्पितमा दुनिया की नश्वरता, दैवी गुणों की महत्ता और विश्व में फैले अनाचार तथा अंध-विश्वासों के सम्बन्ध में कभी-कभी ऐसे प्रश्न कर लिया करता कि सुविज्ञ पिता को भी उत्तर देने के पूर्व ज़रा ठिठक जाना पड़ता था।

एक के बाद एक पंद्रह वर्ष बीते। तत्कालीन प्रचलित प्रथा के अनुसार स्पितमा का विवाह हो गया। किंतु गृहस्थाश्रम की माया-जाल से वह सशंकित हो उठा। उसका हृदय विचित्र-विचित्र प्रश्नों का क्रीड़ास्थल बन गया। एक ओर आँखों में गृहस्थाश्रम का असीम सुख, नव-वधू का स्नेह, और अपने आस-पास फैला ऐश्वर्य से भरपूर वैभव

था तो दूसरी ओर दुखियों का कातर क्रन्दन उसे चौंका देता था। गृहस्थी के आकर्षक किंतु क्षणिक सुखों की भावनाओं और दया, प्रेम, उदारता, त्याग आदि स्वर्गीय आदर्शों के बीच उसके मन में घोर युद्ध छिड़ गया था। बड़ी उलझन थी। सांसारिक प्रलोभन और ऐहिक जीवन की सफलता के माया-जाल ने उसे अपनी परिधि में कसकर बाँध रखने में कोई बात उठा न रक्खी थी। उधर पारलौकिक अज्ञात शक्तियाँ उसकी आँखों में एक उज्ज्वल भविष्य चमका रही थीं। आख़िर वैराग्य ने वैभव को विदाई दी और अपनी नवागत वधू से स्नेहपूर्वक विदा माँग युवा स्पितमा अनंत शांति की खोज में न जाने किस सुनसान में विलीन हो गया!

साधना के सुरम्य प्रदेश से इस नवीन साधक को निर्वासित करने के लिए माया ने कोई बात उठा न रखी। उसे विश्वसाम्राज्य का प्रलोभन दिखाया, इस अनुष्ठान में असफलता का भय दिखाया और मधु-घुली मीठी शब्दावलियों से उसे भ्रष्ट करने की अनेकों कोशिशें कीं। लेकिन जो इन प्रलोभनों से परे बहुत ऊँचा उठ चुका था, जिसमें ज्ञान की अदम्य पिपासा जाग उठी थी और जिसने दुःख में सुख, त्याग में प्राप्ति और बलिदान में जीवन देखने में जीवन की सार्थकता समझी थी, उसे ये इंद्रधनुष-से क्षणिक रंगीन प्रलोभन कब तक अपने में लुभा रखने की चेष्टा करते! इनके लिए उसके पास एक ही उत्तर था—मेरा जीवन मेरा अपना नहीं। मैं उसे दुखियों के चरणों में स्नेह-पूर्वक समर्पित कर चुका हूँ। मुझे अपने प्राणों की चिंता नहीं, मैं अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं हो सकता। यह ईश्वरीय आदेश है। मुझे उसके आदेशों को प्रतिष्ठित करना है।

ग्यारह वर्ष की निरंतर घोर तपस्या ने जिस प्रकार राजकुमार सिद्धार्थ को बुद्ध बना दिया था उसी तरह पन्द्रह वर्षों की कठोर साधना ने इस राजवंशी को भी 'स्पितमा' से 'ज़रथुश्त्र' अथवा 'स्वर्णिम किरणोंवाला' बना दिया। साधना की स्वर्णिम रश्मियों से युवक स्पितमा का मुख प्रोद्भासित था। उसकी बुद्धि की प्रखर प्रतिभा साधना के इस दिव्य प्रकाश से और भी अधिक दमक उठी थी।

इसी समय उसे अपने आस-पास बिखरे हुए असाम्य का स्पष्ट चित्र दिखाई दिया। जिस ईश्वरीय आदेश की प्रतिष्ठा के लिए उसका जन्म हुआ था, उसकी सार्थकता के लिए प्रयत्न में विलम्ब उचित नहीं था। अतएव जंगल के निर्जन प्रदेश को छोड़कर उसने फिर बस्ती का मार्ग पकड़ा। पंद्रह वर्ष के लम्बे संन्यास के बाद उसने फिर अपने कुटुम्ब में आश्रय लिया—इसलिए नहीं कि साधनामय जीवन में अब उसे विश्वास नहीं रह गया हो अथवा सांसारिक प्रलोभनों ने उसे ग्रस लिया हो; बल्कि इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए कि मनुष्य कौटुम्बिक जीवन व्यतीत करके भी दैवी आदर्शों को जीवन में उतार सकता है। पूर्ण उत्साह के साथ उसने अपना कार्यक्रम निश्चित कर अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया।

ज़रथुश्त्र की बातें एकाएक ग्रहण नहीं कर ली गईं। उसे कई मुसीबतों का सामना करना पड़ा। परंतु विरोधों ने उसे निराश करने के बजाय प्रोत्साहन ही दिया। और फिर वह कोई नई बात भी तो नहीं कह रहा था! उसका उपदेश उसी सनातन सत्य पर ही तो आश्रित था, जो चिरकाल से मानवता के विकास में पूर्ण योग देता आ रहा था! केवल सुव्यवस्था के बंधन शिथिल हो चले थे, इसीलिए स्वेच्छाचारिता के इस युग में ये दैवी गुण अत्याचारों की पृष्ठ-भूमि में फेंक दिए गए थे। इन्हीं प्राचीन मानवीय आदर्शों की पुनः स्थापना ही ज़रथुश्त्र का लक्ष्य था।

वर्षों तक ज़रथुश्त्र को अपने एक भतीजे के सिवाय कोई साथी न मिल सका। किंतु इस एकमात्र अनुयायी ने अपने गुरु का साथ बुढ़ापे में सफ़ेद बालों की तरह निभाया। इसके अतिरिक्त ईरान से बाहर तो क्या, स्वयं ईरान ही में उसे माननेवाला कोई नहीं था। वहाँ का शासकवर्ग तो यों ही उससे जला-भुना था, फिर उसके उपदेशों को उपेक्षा की दृष्टि से वह क्यों न देखता! तत्कालीन पंडित-वर्ग भी उससे प्रसन्न रहा हो, यह बात भी नहीं थी। किंतु ज़रथुश्त्र इससे हताश नहीं हुआ। अपने सम्मुख वह एक महान् उत्तरदायित्व को खड़ा देखता था। इसके लिए वह तत्पर था। वह समझता था और बख़ूबी जानता था कि उत्साह तो अपने हृदय ही में निवास करता है, वह बाहर से आने की चीज़ थोड़े ही है। और यदि वह अपने प्रति, अपने सिद्धान्तों के प्रति सच्चा है, तो दुनिया की कोई शक्ति उसके आदर्शों की अपेक्षा नहीं कर सकती।

समय आया और पड़ौसी बाख्धी (बेक्ट्रिया) के शासक विष्टास्प ने ज़रथुश्त्र के सिद्धान्तों के प्रति अपनी आस्था प्रकट की। उसके साथ ही उसके दो मंत्री जामास्प और फ़शाओष्ट्र भी ज़रथुश्त्र के अनुयायी बन गए। इस प्रकार ज़रथुश्त्र का मत पूर्वी ईरान का मान्य धर्म बन गया। तब तो ज़रथुश्त्र की ख्याति की मानो बाढ़ आ गई।

उसके अनुयायियों की संख्या-वृद्धि इस तथ्य का निश्चित प्रमाण थी कि लोगों में अपने विस्मृत आदर्शों को अपनाने के लिए पिपासा जग उठी थी। ज़रथुश्त्र के अनुयायियों की यह आशातीत वृद्धि देखकर ईरान के निरंकुश शासक क्रुद्ध गए। उन्होंने बेक्ट्रिया आदि से ज़रथुश्त्र के मत के विनाश के लिए युद्ध ठान दिया। किंतु सत्य का पक्ष सदैव विजयी होता है। कालान्तर में सारे ईरान को विवश होकर ज़रथुश्त्र के मत को स्वीकार करना पड़ा। अपने जीवनकाल ही में जन्मभूमि ईरान में अपने सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा होते देख ज़रथुश्त्र अपनी सफलता पर गद्गद हो गया। सम्राट् अशोक ने जिस तरह बाद में बौद्ध धर्म के प्रचार में उत्साह-पूर्वक भाग लिया था, उसी तरह इन ईरानी सम्राटों ने भी ज़रथुश्त्र के उपदेशों का देश के कोने-कोने में प्रचार करने में कोई कसर न उठा रक्खी। कई वर्षों तक इस तरह मानव-धर्म की प्रतिष्ठा करते रहने के पश्चात् ईरान का यह 'स्वर्णिम प्रकाश-पुंज' अंत में कहीं अन्यत्र उगने के लिए विलुप्त हो गया।

ज़रथुश्त्र

प्राचीन ईरान का यह धर्म-संस्थापक कब हुआ इसके संबंध में इतिहास-कारों के भिन्न-भिन्न मत हैं। पाश्चात्य विद्वान् आम तौर पर ज़रथुश्त्र की तिथि १००० ई० पू० मानते हैं। अनेक प्राचीन ग्रीक लेखकों ने तो ज़रथुश्त्र को ईस्वी पूर्व कई हज़ार वर्ष पूर्व का माना है। कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं कि संसार के इतिहास में ज़रथुश्त्र और उनके धर्मग्रंथों का नाम बहुत प्राचीन है। यह कहा जा सकता है कि ये उतने ही प्राचीन हैं जितने कि ऋग्वेद के ऋषि और ऋचाएँ। काल की लीला के फल-स्वरूप ज़रथुश्त्र का मत बौद्ध धर्म की भाँति अपनी जन्मभूमि से निर्वासित होकर आज दिन केवल भारत में आ बसे कुछ लाख पारसियों में ही बचा रह गया है। पश्चिमी एशिया में जब इस्लाम का प्रादुर्भाव हुआ तब उसकी आँधी के सामने न ठहर सकने के कारण अधिकांश ईरानवासी भी मुसलमान हो गए। केवल कुछ धर्मव्रती ईरानी अपने धर्म की रक्षा के लिए स्वदेश से निर्वासन स्वीकार कर भारत-भूमि में आ बसे। यह लगभग १००० वर्ष पूर्व की घटना थी। उन्हीं की संतान, जो पारसी कहलाते हैं, आज इस देश में ज़रथुश्त्र के पुरातन पुनीत धर्म के प्रदीप को जीवित रखे हुए हैं। पश्चिमी भारत में उदवाड़ा नामक स्थान में इनका प्रधान देवालय है, जहाँ उनके द्वारा पूजी जानेवाली पवित्र अग्नि स्थापित है।

प्राचीन ईरान और भारत की संस्कृति में बड़ी समानता है, यह बात दोनों संस्कृतियों के साहित्य के अध्ययन के पश्चात् स्पष्ट हो जाती है। एशिया के मध्य भाग से जब आदि आर्यों ने दक्षिण की तरफ़ कूच करना शुरू किया था तब ईरान की सीमा पर आते-आते उनके दो विभाग हो गए। एक धारा ईरान की ओर बह चली, दूसरी ने भारत की शस्य श्यामला भूमि की ओर प्रयाण किया। देश-काल के प्रभावों के अनुसार यद्यपि ईरानी और भारतीय संस्कृतियों में कुछ अन्तर पड़ गया है, किंतु वस्तुतः दोनों सभ्यताओं का मूल स्रोत एक ही है। प्राचीन भारतीय आर्यों की ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की चातुर्वर्ण्य योजना से मिलती-जुलती वर्ण-व्यवस्था ईरानियों की धार्मिक व्यवस्था में भी पाई गई है, जो क्रमशः 'अथ्रवन', 'रथेष्टार', 'वास्त्र्योश' तथा 'हुतोक्ष' शब्दों से परिलक्षित होती है। वे भी अग्नि, जल, वायु, इंद्र आदि देवताओं के पूजक थे। उनकी भाषा वैदिक संस्कृत से बहुत-कुछ मिलती है। उनका धर्म 'यस्न' नामक ग्रंथ-संग्रह में लेखबद्ध है। इसके ७२ 'हास' या भाग हैं। इन्हीं में ज़रथुश्त्र की 'गाथा' हैं, जो पाँच हैं—अहुनवैती, उष्तवैती, स्पेन्तामैन्यु, वोहू-क्षत्र और वहिश्तोइश्ती। इन्हीं पाँच ग्रंथों में ज़रथुश्त्र की सारी शिक्षा भरी हुई है। जैसी झाँकी ऋग्वेद की ऋचाओं में दीखती है वैसी ही कहीं-कहीं 'अवेस्ता' (ईरानियों के सबसे महत्त्व-पूर्ण धार्मिक ग्रंथ) में भी मिलती है। परम पिता को उसमें 'अहुर' की संज्ञा प्रदान की गई है। तात्पर्य यह कि भारत के

धर्म में पाई जानेवाली मुख्य-मुख्य विशेषताओं का प्रयोग प्राचीन ईरानी धर्म-व्यवस्था में भी होता था।

हम ईरानी धर्म की बारीकियों में जान-बूझकर नहीं घुसना चाहते। यह हमारा लक्ष्य नहीं। मोटे रूप में हम आपके सम्मुख उसके सिद्धान्तों में छिपे तत्त्व को ही संक्षेप में प्रकट कर देना चाहते हैं।

यह हम लिख चुके हैं कि ज़रथुश्त्र का ईरान 'अद्वैत' का अनुयायी था। हमारे 'निर्गुण' की कल्पना उनके इस अद्वैत में भली भाँति स्पष्ट है। यद्यपि 'अहुर मज़दा' के साथ ईश्वर के छः अन्य रूपों की भी कल्पना है, किंतु वे 'एक' ही के भिन्न रूप हैं, यह भी स्पष्ट है। सत शक्तियाँ दैवी गुणों की सम्यक् प्रतीक हैं। ज़रथुश्त्र ने संसार की उत्पत्ति इन्हीं शक्तियों द्वारा स्वीकार की है। 'अग्नि' (आतर) की पूजा ईरानियों में सबसे अधिक पवित्र मानी गई है। संभवतः ज्ञान के प्रकाश का प्रतीक मानकर अग्नि की पूजा को महत्त्व प्रदान किया गया हो।

ईरानियों की प्राचीन धार्मिक पुस्तकों में कहीं-कहीं बड़ा सुन्दर और मनोरंजक दार्शनिक विवेचन मिलता है। 'गाथा अहुनवैती' इसी तरह की एक धार्मिक पुस्तक है, जिसमें सत (good) तथा असत् (evil) का गंभीर विवेचन किया गया है। ज़रथुश्त्र के दार्शनिक सिद्धान्त मुख्यतः इसी में संकलित हैं। सत्-असत् का विवेचन करते हुए यह बताया गया है कि जीवन में इन दोनों परस्पर-विरोधी शक्तियों का क्या महत्त्व है। एक से दूसरे का ज्ञान संभव है। असत् की उपस्थिति से ही सत् का मूल्य है। और यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो यह स्पष्ट होते देर न लगेगी कि परस्पर विरोधी वस्तुओं से ही किसी वस्तु का मूल्यांकन उचित रीति से हो सकता है। मृत्यु एक भयानक सत्य है, इसीलिए जीवन की लालसा अधिक जागरूक है। फूल के क्षणिक सौन्दर्य की भावना में ही उसके उपयोग कर लेने की सार्थकता निहित है। अभावों से ही प्रायः भावों की सृष्टि होती है। जीवन में सुख जितना सत्य है, दुःख उससे कम सत्य नहीं। वस्तुएँ क्षणिक हैं, इसीलिए वे आनंदप्रद भी हैं, अन्यथा अपरिवर्त्तनशीलता तो थका देनेवाली चीज़ है। ज़रथुश्त्र ने इस महान् सत्य को बख़ूबी समझा था। सांख्य के 'पुरुष' और 'प्रकृति' की तरह उन्होंने संसार के विकास के लिए सत् और असत् की विद्यमानता आवश्यक समझी। जरथुश्त्र के अनुसार भावों की तरह अभाव भी जीवन में उतने ही वास्तविक हैं, जितने कि भाव!

भारत के प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने ईश्वर-प्राप्ति के तीन प्रमुख साधन बताए हैं—एक ज्ञान द्वारा, दूसरा भक्ति द्वारा और तीसरा कर्म द्वारा। इन सबमें निष्काम भाव की प्रधानता पर ज़ोर दिया गया है। इन तीन में से ज़रथुश्त्र ने कर्म का मार्ग अपने लिया चुना और उसे गीता के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' में निहित सिद्धान्त की ठोस नींव पर आश्रित कर दिया। निःस्वार्थ सेवा, परोपकार, दया, प्रेम, त्याग, उदारता आदि दैवी गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ही मनुष्य कहलाने का अधिकारी है। मुसीबत में पीड़ित की सहायता से बढ़कर दूसरा पुण्य-कार्य नहीं हो सकता। परस्पर सहानुभूति की भावना मानवता के विकास के लिए सबसे महान् साधन है।

जीवन के इन आदर्शों का मन, वचन और कर्म से सचाई के साथ पालन करना प्रत्येक के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। सत्य-भाषण और सत्य आचरण की समता दुनिया का कोई ऐश्वर्य नहीं कर सकता। किंतु जहाँ सत्य-भाषण पर इस तरह का ज़ोर दिया गया है, वहाँ कटु सत्य का निषेध भी है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि मधुर असत्य का प्रयोग क्षम्य है। ठीक इसी तरह के विचार मनु-स्मृति में भी पाए जाते हैं। भावों की यह एकरूपता कैसे संभव हो सकी, यह विवादग्रस्त उलझन है। किंतु ये वही महान् सत्य हैं, जिनका अनुभव सभी स्थानों में महापुरुषों द्वारा संभव हुआ।

'हुवर्ष्ट' ज़रथुश्त्र के धर्म में भारतीय कर्मयोग का रूपान्तर है। एक वाक्य में इसका सार अंकित किया जा सकता है—सुख का उद्गम वहीं है जहाँ से मनुष्य की सहानुभूति का स्रोत अन्य के लिए उमड़ पड़ता है।

आज यद्यपि समय के फेर में पड़कर ईरान ने अपनी प्राचीन पुनीत एवं स्वर्गीय सभ्यता को भुलाकर घोर भौतिकता का चोगा धारण कर लिया है, तथापि उसे अपने प्राचीन आध्यात्मिक उत्कर्ष पर गर्व है। विश्व की महान् आत्माओं में ज़रथुश्त्र की भी अपनी विशेषता है। भारत के कुछ लाख पारसी ही आज पृथ्वी पर इस महान् शिक्षक के अनुयायियों के रूप में बचे रह गए हैं, परंतु किसी भी महापुरुष की महानता उसके अनुयायियों की संख्या से तो नहीं आँकी जा सकती।